भगवतीचरण वर्मा की रचनाओं का प्रतिनिधि सं...

अर्पित मेरी भावना

सम्पादक

धर्मवीर भारती

श्रीलाल शुक्ल

सुरेन्द्र तिवारी

अर्पित मेरी भावना

श्री भगवतीचरण वर्मा की रचनाओं का प्रतिनिधि संकलन

अर्पित मेरी भावना
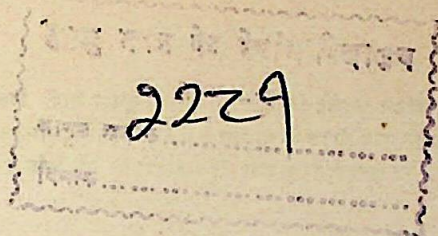
श्री भगवतीचरण वर्मा की
रचनाओं का
प्रतिनिधि संकलन

सम्पादक
डा० धर्मवीर भारती
श्रीलाल शुक्ल
सुरेन्द्र तिवारी

राजकमल प्रकाशन
दिल्ली □ पटना

रचना-क्रम

प्रस्तावना : श्रीलाल शुक्ल	९
एक प्रश्न यात्री : धर्मवीर भारती	१२
अपनी पीढ़ी का सबसे बड़ा आदमी : सुरेन्द्र तिवारी	१९
कल सहसा यह सन्देश मिला : कविता	२५
हम खण्डहर के वासी : निबन्ध	२७
हम दीवानों की क्या हस्ती : कविता	३२
चित्रलेखा : उपन्यासांश	३४
रेखा : उपन्यासांश	४०
कुत्ते की दुम : कविता का अंश	४३
दो बाँके : कहानी	४४
विक्टोरिया क्रॉस : कहानी	४९
तीन वर्ष : उपन्यासांश	५४
सीधी-सच्ची बातें : उपन्यासांश	५६
सबहिं नचावत राम गोसाईं : उपन्यासांश	५७
भैंसागाड़ी : कविता	६६
टेढ़े-मेढ़े रास्ते : उपन्यासांश	७१
पैंतीसवीं वर्षगाँठ पर : कविता	७९
कर्ण : काव्य-रूपक के अंश	८२
सीधी-सच्ची बातें : उपन्यासांश	८८
अन्तिम दर्शन : कविता के अंश	९७
भूले-बिसरे चित्र : उपन्यासांश	९८
दो कलाकार : एकांकी नाटक	१०८
मुग़लों ने सल्तनत बख्श दी : कहानी	११४
दोस्त एक भी नहीं जहाँ पर : कविता	१२०

सबहिं नचावत राम गोसाईं : उपन्यासांश १२२
अपने खिलौने : उपन्यासांश १३८
रेखा : उपन्यासांश १४४
नूरजहाँ की क़ब्र पर : कविता के अंश १५०
देखो, सोचो, समझो : कविता १५२
सामर्थ्य और सीमा : उपन्यासांश १५४
बादल : कविता का अंश १७०
प्रश्न और मरीचिका : उपन्यासांश १७१
काँपती हवा सा : कविता १८७
समर्पण : कविता १८८

अर्पित मेरी भावना
प्रस्तावना खण्ड

प्रस्तावना : श्रीलाल शुक्ल
एक प्रश्न यात्री : धर्मवीर भारती
अपनी पीढ़ी का सबसे बड़ा आदमी : सुरेन्द्र तिवारी

प्रस्तावना

श्री भगवतीचरण वर्मा, या अपने और उनके प्रति अधिक सहज होकर कहना चाहें तो, भगवती बाबू के लेखन का यह संकलन उनके पैंतालीस वर्षों के रचनाकाल का प्रतिनिधित्व करता है। यह सही है कि संकलन के आयोजन के पीछे भगवती बाबू के प्रति सम्पादकों के बिल्कुल व्यक्तिगत सम्मान और स्नेह की भावना है—ऐसी भावना जो साहित्येतर नहीं, बल्कि साहित्योपरि है—फिर भी वे इस संकलन की संग्रहणीयता और सार्वजनिक उपादेयता के बारे में बराबर सचेत रहे हैं। इस कारण, और भगवती बाबू की विभिन्न रचनाओं की अपनी विशेषता के कारण, संकलन का काम उतना आसान नहीं रहा है जितना शायद यह प्रस्तुत रूप में लगता होगा।

भगवती बाबू की कृतियों में इतनी विविधता है, बहुरंगी स्थितियों की इतनी भरमार है, और सृजनात्मक मूड का इतना उतार-चढ़ाव है कि इस प्रकार के संकलन के लिए सिर्फ़ दो विकल्प जान पड़ते थे : या तो इसका आकार इतना बढ़ा दिया जाता कि एक छोर पर 'चित्रलेखा' या 'सामर्थ्य और सीमा' और दूसरे छोर पर 'अपने खिलौने' या 'सबहिं नचावत राम गोसाईं' को एक सूत्र में रस-भंग की स्थिति पैदा किये बिना बाँधा जा सकता; 'कर्ण' और 'दो बाँके' की मानसिकता के अन्तराल को बिना झटके के आत्मसात् किया जा सकता; दूसरा विकल्प यह था कि एक विशेष रंग या मूड की रचनाओं को ही संगृहीत करके भगवती बाबू के साहित्य के एक-एक पक्ष को अलग-अलग संकलनों द्वारा उभारा जाता। पर हमने इन विकल्पों से अलग एक दूसरा प्रयोग करने की महत्त्वाकांक्षा दिखायी है। भगवती बाबू की रचनाओं की जो प्रवृत्तियाँ, चाहे वे स्पष्ट हों या अन्तर्निहित, बार-बार पाठक की चेतना से टकराती हैं, उनको मुखरित करने वाली रचनाओं और उद्धरणों को छाँटने की चेष्टा की गयी है, और जहाँ तक सम्भव था, एक भावभूमि पर टिकी हुई कृतियों को एक साथ सहेजा गया है। 'रेखा' के कुछ उद्धरणों के बाद 'नूरजहाँ की कब्र पर' के जो अंश इस संग्रह में मिलेंगे, या 'सामर्थ्य और सीमा' के उद्धरणों की भूमिका के रूप में जो 'देखो, सोचो, समझो' कविता मिलेगी, उन सबकी एक पारस्परिक प्रासंगिकता है। उसी तरह 'प्रश्न और मरीचिका' के उद्धरण और उसके बाद 'काँपती हवा-सा' वाली कविता, इसके बावजूद कि दोनों रचनाओं के बीच में

बीस वर्ष से ऊपर का फासला है, सांकेतिक रूप में एक-दूसरे से जुड़ी हैं। फिर भी, पल-पल पर बदलती हुई स्नेह, आशंका, उधेड़बुन आदि की मनःस्थितियाँ, माने हुए मूल्यों के आगे बार-बार प्रश्नचिन्ह लगाने की प्रवृत्ति और उन प्रश्नों के उत्तर न खोज पाने की असहायता—और इन सबसे अलग मौज और फक्कड़पन से भरा हुआ हास्य-व्यंग्य—इस सबको इतने छोटे संकलन में उतार पाना एक दुष्कर प्रयोग रहा है; और कभी-कभी यदि पाठक के एक खास मूड को दूसरा मूड एक झटके के साथ अवक्रमित करे तो उसकी खीझ का यही पुरस्कार है कि हिन्दी में सबसे अधिक पढ़े जाने वाले साहित्यकार के बहुरंगी लेखन का पूरा अनुभव वह इतने कम समय में एक साथ प्राप्त किये ले रहा है।

ऊपर भगवती बाबू की कृतियों की विविधता का ज़िक्र किया गया है। उनका साहित्य उतना ही वैविध्यपूर्ण है जितना कि उनका जीवन है। शहरी परिवार के होते हुए भी वे गाँव में पैदा हुए थे, क्योंकि कानपुर के वकील होने के बावजूद उनके पिता उनके जन्म के समय, जो ३० अगस्त, १९०३ को हुआ था, कुछ महीनों के लिए शफीपुर, जिला उन्नाव में आकर रहे थे। पाँच वर्ष की आयु में उनके पिता का देहान्त हुआ, पर वे युवावस्था तक एक भरे-पूरे संयुक्त परिवार के अंग रहे और अनाथ होने की भावना के शिकार नहीं हुए। आरम्भिक कक्षाओं में कभी-कभी हिन्दी में फेल होने पर भी वे आरम्भ से हिन्दी में कविता लिखते रहे और १९२६ में इलाहाबाद से बी० ए० और बाद में कानून की डिग्री ले चुकने पर भी, बहुत छोटे समय को छोड़कर, उन्होंने नौकरी या वकालत नहीं की। १९३३ के इर्द-गिर्द प्रतापगढ़ जिले के तअल्लुकेदार राजा साहब, भदरी के साथ रहने के बावजूद वे राजाश्रयी नहीं हुए और उस अनुभव को 'राजा साहब का वायुयान' या 'भैंसागाड़ी' जैसी रचनाओं का प्रेरक बनाते रहे। १९३६ के लगभग कलकत्ते में फ़िल्म कारपोरेशन की नौकरी करने गये और नौकरी छोड़कर वहाँ से 'विचार' नाम का साप्ताहिक निकालने लगे। इसके पहले उन्हें 'चित्रलेखा' के लेखक की ख्याति मिल चुकी थी, पर उन्होंने उस ख्याति का फ़ायदा उठाकर 'चित्रलेखा' जैसी कोई कृति नहीं दोहरायी और 'तीन वर्ष' और 'दो बाँके' जैसी बिलकुल दूसरे आयाम की रचनाएँ लिखते रहे। फिर बम्बई में फ़िल्मी नौकरी, फिर 'नवजीवन' दैनिक का सम्पादन, फिर रेडियो की नौकरी, १९५७ में वहाँ भी इस्तीफा और उसके बाद से वैसा ही स्वतन्त्र लेखन, जैसा उन्होंने १९२८-२९ से शुरू किया था।

आज वे लखनऊ में अपने बँगले 'चित्रलेखा' में एक सुव्यवस्थित गृहस्थ की तरह रहते हैं। पर यह सुव्यवस्था शायद उनकी आन्तरिक व्यवस्था से मेल नहीं खाती। तभी मोटर होते हुए भी ये हजरतगंज (४ किलोमीटर) तक पैदल आना पसन्द करते हैं। पाँच बेडरूम वाले मकान के बावजूद, लेखन-कार्य मकान के उस बाहरी बरामदे में करते हैं जहाँ बच्चे खेल सकते हैं और कोई भी अजनबी किसी भी समय आकर कोई भी बात कर सकता है। वे साहित्य अकादमी से पुरस्कृत हैं और पद्मभूषण से अलंकृत हैं और कभी-कभी सार्वजनिक समितियों से भी सम्बद्ध हो जाते हैं। पर वे इस सबको एक सफल लेखक के साथ जुड़ने वाले 'हम्बग' की अनिवार्यता मानकर, इस सबके इस पक्ष या उस पक्ष में शोर नहीं मचाते। उनका कहना है: अगर तुम्हीं को पद्मभूषण बना दिया जाये, तो सरकार का क्या कर लोगे?

भगवती बाबू की इस जीवन-शैली में उनके निकटतम मित्र जिस तरह उन्हें एक ढाँचे में पाबन्द नहीं देख पाते और उनकी प्रतिक्रियाओं का पूर्वाभास नहीं ले पाते, वैसे ही उनकी साहित्यिक विधाएँ और शैलियाँ भी देखती होंगी कि उनमें किसी को भी उनका निरन्तर एकनिष्ठ विश्वास नहीं मिल पा रहा है। आज भी कहना मुश्किल है कि कविता और उपन्यास के बीच वे ज़्यादा किसके हैं और जब उनकी आयु और परिपक्वता से बहुत अधिक वैचारिक गम्भीरता की माँग की जा रही हो तो वे वुडहाउस की तरह अचानक ही 'अपने खिलौने' का आनन्दमय आश्चर्य सृजित कर सकते हैं। हमने कोशिश की है कि भगवती बाबू का व्यक्तित्व उनके निकटवर्ती मित्रों के लिए जितना सुखद है, उतना ही सुखद उनका कृतित्व इस संग्रह के पाठकों के लिए हो।

भगवती बाबू ने पिछले वर्ष ३० अगस्त को अपने सत्तर वर्ष पूरे किये हैं। आज से लगभग पैंतीस वर्ष पहले उन्होंने 'पैंतीसवीं वर्षगाँठ पर' जो कविता लिखी थी, वह आज भी हमें कई स्तरों पर झकझोरती है। उनके पाठकों को इससे सन्तोष होगा कि सत्तरवीं वर्षगाँठ पर वे वैसी कविता लिखने के लिए भीतर से बाध्य नहीं हुए। भटकाव का वह दौर खत्म हो गया है और दास भगौती भले ही खंडहर के वासी हों, उन्होंने अब अपना अधिवास पा लिया है। हिन्दी के लिए यह सौभाग्यपूर्ण स्थिति है, क्योंकि आज वे पहले से भी ज़्यादा श्रमसाध्य, किन्तु सुस्थिर रूप से अपने रचनाकार्य में प्रवृत्त हैं।

३० अगस्त, १९७३ को उनकी सत्तरवीं वर्षगाँठ पर हम—उनके परिचित, मित्र, प्रशंसक—एक समारोह करना चाहते थे। भगवती बाबू के मित्रों और हितैषियों का एक विशाल समुदाय है। साहित्यिकों के अलावा उसमें मियाँ जगाती—जिन्हें 'तीन वर्ष' समर्पित हुआ था—से लेकर कई पदस्थ और अपदस्थ मन्त्री, मुख्यमन्त्री और गवर्नर हैं। उन सबको बुलाकर हम एक 'भगवती' मेला रचाने को उत्सुक थे। पर हम यह भी कहीं सोच चुके थे कि ऐसा हो न पायेगा। और वही हुआ, यानी जैसा हम चाहते थे वैसा नहीं हुआ। पूरे प्रस्ताव को 'वर्माजी ने मारी लात'। उन्होंने हमें बताया कि दूसरे को बेवकूफ़ बनता देखने में उन्हें आपत्ति नहीं है, पर वे खुद बेवकूफ़ नहीं बनना चाहते।

यदि यह संकलन अकेले मेरा दायित्व होता तो भगवती बाबू को किसी दूसरे को बेवकूफ़ बनते देखने का एक अतिरिक्त अवसर मिल सकता था; पर धर्मवीर भारती और सुरेन्द्र तिवारी के हाथ बँटाने से और श्रीमती शीला सन्धू की ओर से दक्षतापूर्ण और परिमार्जित प्रकाशन मिल जाने से शायद वह अवसर अब उन्हें नहीं मिल पायेगा।

भगवती बाबू के इकहत्तरवें वर्ष में उनके प्रति हमारे स्नेह का प्रतीक, उनकी कृतियों का यह संचयन उन्हीं को अर्पित है।

—श्रीलाल शुक्ल

लखनऊ :
१ अगस्त, १९७४

एक प्रश्न यात्री

इतिहास क्या है ? उन महत्त्वपूर्ण घटनाओं का सिलसिला जो आदिम काल से आज तक इस दुनिया की शक्ल बदलती आयी हैं। और इतिहास के प्रमुख नायक कौन हैं ? वे राजा, जन नेता, सेनापति और चिन्तक जो इन घटनाओं के सूत्रधार रहे हैं। इन महामानवों के कारण देशों के नक्शे बदलते रहे हैं, प्रजाओं के भाग्य बदलते रहे हैं, मानव-जाति का रहन-सहन और सोचने-समझने के तौर-तरीके बदलते रहे हैं, मानव-इतिहास की दिशाएँ बदलती रही हैं।

लेकिन क्या इतिहास केवल यही है ? बदलते शासकों, जीते या हारे हुए युद्धों, उदित और अस्त होते हुए धर्मों की कहानी ? इन चमकते मुकुटों, विजयी तूर्यनादों, गड़ते और उखड़ते झंडों के शानदार चौखटे के अन्दर एक और बहुत बड़ा और वैविध्यपूर्ण जीवन है सामान्य मनुष्य का, जहाँ इन घटनाओं की छाया में बहुत कुछ घटित होता रहता है, बड़े सूक्ष्म स्तरों पर, भावनाओं के धरातल पर, सामाजिक, आर्थिक, पारिवारिक सम्बन्धों के धरातल पर। मानव-सम्बन्धों का यह स्पन्दित आल-जाल अपने में एक और गहरा इतिहास छिपाये रहता है। उस जाहिरा तौर पर लिखे गये इतिहास से कहीं अधिक समृद्ध, कहीं अधिक अर्थवान।

यह दिन-प्रतिदिन अनेक सामाजिक शक्तियों के और मनुष्य के आन्तरिक चिन्तन के घात-प्रतिघात से बनता-बिगड़ता सामान्य मानव के जीवन का सामूहिक और व्यक्तिगत घटनाक्रम ही असली इतिहास है, जिसे बहुधा इतिहासकार लिख ही नहीं पाता।

और इस असली इतिहास को लिखता है लेखक-कथाकार। कुछ कथाकार इसके एक-दो विशिष्ट रेशों को आधार बनाते हैं, उसी पर अपनी कथा का सारा ढाँचा निर्माण करते हैं। इस प्रकार इतिहास के एक युग, या एक शताब्दी या एक दशक में सैकड़ों कथाकार इस विराट तन्तुजाल के अपने-अपने अलग सूत्रों की कथा कहते हैं, और बाद में यह सामाजिक इतिहासकार या दृष्टिवान समीक्षक का कार्य होता है कि वह इन अलग-अलग सूत्रों की अन्तर्निहित सम्बन्ध-दृष्टि को पहचानकर इनको एक विशाल सामाजिक अध्ययन के सार्थक अध्यायों के रूप में अन्तर्ग्रंथित कर दे।

लेकिन कुछ असाधारण क्षमता वाले कथाकार होते हैं, जो इस बहुत बड़ी चुनौती को स्वीकारते हैं, इस पूरे युग में मानव-जीवन के समूचे बदलते हुए साँचे को अपने अध्ययन का विषय बनाते हैं और सैकड़ों पात्रों, सैकड़ों बनते-बिगड़ते सम्बन्ध-सूत्रों, सैकड़ों विविध क्षेत्रों में घटती घटनाओं को, उन सबकी अलग इयत्ता और अलग मार्मिकता कायम रखते हुए, उनके माध्यम से उस पूरे युग का एक जीता-जागता इतिहास प्रस्तुत करते हैं—सामान्य, अज्ञात चरित्रों के माध्यम से एक ऐसा इतिहास जो इतिहासकारों द्वारा लिखे गये इतिहास से ज्यादा जीवन्त, ज्यादा वास्तविक, ज्यादा अर्थवान होता है।

भगवतीचरण वर्मा, मेरी दृष्टि में, हिन्दी के अकेले कथाकार हैं, जिन्होंने यह चुनौती स्वीकारी है और अपने उपन्यासों के माध्यम से इस पूरी शताब्दी में भारतीय सामाजिक ढाँचे के बाहरी और अन्दरूनी ठहरावों और बदलावों का एक क्रमबद्ध चित्रण किया है, और न केवल सामाजिक और पारिवारिक टूटते-बनते सम्बन्धों का सजीव चित्रण किया है, तथा आन्तरिक भावनात्मक धरातल की उथल-पुथल खूबी से आँकी है, वरन् बाहरी तथाकथित ऐतिहासिक घटनाओं के फ्रेम को भी उतनी ही खूबी से निभाते चले गये हैं। यह तो कमजोरी हमारी वर्तमान हिन्दी समीक्षा की है कि जो अपने ओछे आग्रहों या दम्भी शास्त्रीयता या झूठी सैद्धान्तिकता की ओट में अपने खोखलेपन को छिपाने में ही जी-जान से लगी हुई है, वरना किसी और भाषा में यदि 'भूले-बिसरे चित्र', 'सीधी-सच्ची बातें' और 'प्रश्न और मरीचिका'—यह उपन्यासत्रयी प्रकाशित होती तो भगवती बाबू की इस असाध्य, अर्थवान ऐतिहासिक कथोपलब्धि का महत्त्व पहचाना जाता।

हिन्दी समीक्षा की यह ट्रेजेडी, जो कि बहुत बार राजनीतिक या शास्त्रीय शब्दावली के छद्म का सहारा लेकर अपने सीमित स्वार्थों को स्थापित करने की असफल चेष्टा करती रही है, वास्तव में दोहरी चाल चलती रही है। एक ओर इसने शब्दाडम्बर के सहारे अपने कुछ विशिष्ट नामों के निहायत मीडियाकर साहित्य को बैसाखियाँ लगाकर खड़ा करने की कोशिश की है, दूसरी ओर साहित्य में जो वास्तविक महत्त्व का लेखन हुआ उसे व्यक्तिवादी, अहम्निष्ठ, प्रतिक्रियावादी की संज्ञाएँ प्रदान कर नज़रन्दाज करने की चेष्टा की। अधिकांश अध्यापकीय अर्धशास्त्रीय ब्लैकबोर्डीय आलोचकों के लिए, जिनमें समकालीन चेतना का सर्वथा अभाव रहा है और जो उपन्यास को केवल चरित्र-चित्रण, विषयवस्तु, कथानक और कथाशिल्प की घिसी-पिटी कसौटियों पर कसने के आदी रहे हैं, भगवतीचरण वर्मा जैसी प्रतिमा एक प्रश्नचिन्ह बनी रही और वे उसका समुचित मूल्यांकन करने में सर्वथा असफल रहे।

भगवती बाबू के पूरे कार्य का महत्त्व इसलिए और भी बढ़ जाता है कि इतिहास के जिस युग को उन्होंने अपनी तीन महत्त्वपूर्ण कथा-कृतियों—'भूले बिसरे-चित्र', 'सीधी सच्ची बातें' और 'प्रश्न और मरीचिका'—का विवेच्य विषय बनाया है वह न केवल बड़ी तेज़ी से बदलता रहा, वरन् वह कथाकार के जीवन का इतना समकालीन है कि समय की जिस अपेक्षित दूरी की आवश्यकता बहुधा कथाकार को होती है, भगवती बाबू ने उस दूरी की भी माँग नहीं की है। उन्होंने 'भूले बिसरे चित्र' में सन् १८८५ से सन् १९३० तक का समय लिया है और तीन पीढ़ियों के माध्यम से उस काल

का चित्रण किया, जिसमें हमारी राष्ट्रीय चेतना में आधुनिकता के बीज बोये गये, हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन पनपा और दृढ़ होकर हमारी सामाजिक और वैयक्तिक चेतना का अंग बन गया। किसी भी दूसरे दर्जे का कथाकार इसमें राजनीतिक मत-वादों का सहारा लेकर कुछ बने-बनाये घोषित सिद्धान्तों के आधार पर वर्गों का मिटना और उभरना दिखाने का सरल रास्ता अपना सकता था, लेकिन भगवती बाबू की पहली प्रतिबद्धता अपने पात्रों और वास्तविक भारतीय जीवन से रही और उन्होंने वही चित्रित किया जो उन्होंने अपने शैशव, अपने कैशोर्य और अपने यौवन के प्रारम्भिक दिनों के अनुभवों से जाना था। गाँव हैं, शहर हैं, निम्न मध्यमवर्ग से लेकर सम्पन्न वर्ग तक में आते हुए बदलाव हैं, पुरानी और नयी चिन्तनधाराओं के टक-राव हैं, गाँव के अखाड़ों से लेकर कोर्ट-कचहरी और सिविल लाइनों के बँगले हैं और हर जगह भारतीय जीवन की अपनी गति है, परिवर्तनक्रम है, क्षोभ-विक्षोभ है, इन सबकी छाया में अपनी निजी नियति से जूझते हुए व्यक्ति-पात्र हैं और इन सबके माध्यम से सार्थकता की ओर बढ़ता हुआ भारतीय आधुनिक इतिहास है। उपन्यास का अन्त, अन्त नहीं है, एक नयी शुरुआत की भूमिका है, 'दो बूढ़े जिन्होंने युग देखा था, जिन्दगी के अनेक उतार-चढ़ाव देखे थे, जिनके पास अनुभवों का भंडार था, विवश थे, निरुत्तर थे। और दूर हज़ारों, लाखों, करोड़ों आदमी, जीवन और गति से प्रेरित, नवीन उमंग और उल्लास लिये, एक नवीन दुनिया की रचना करने के लिए चले जा रहे थे।' (भूले बिसरे चित्र)

●●●

इस नवीन दुनिया की रचना जिस राष्ट्रीय आन्दोलन की छाया में हो रही थी उसमें अनेक अन्तर्धाराएँ उभरने लगी थीं, जो कहीं-कहीं एक-दूसरे की पूरक थीं तो कहीं अन्तर्विरोधी भी। एक ओर अहिंसा पर अटूट विश्वास रखने वाली गांधी-वादी धारा थी, दूसरी ओर राष्ट्रीय संग्राम को एक वर्ग विशेष का निहित स्वार्थ माननेवाली साम्यवादी धारा थी और तीसरी ओर एक बहुत बड़ी संख्या में वह युवक वर्ग था जो विदेशी शासन से मुक्ति पाने के लिए अधीर था और जिसे कांग्रेस का परम्परागत नेतृत्व बहुत धीमा और कुछ अंशों में अक्षम लग रहा था।

कि अब राष्ट्रीय संगठन के नेतृत्व की वह एकसूत्रता नहीं रह पायेगी, नयी शक्तियाँ उभरकर आ गयी हैं और उन्हें दबाया नहीं जा सकता, यह स्पष्ट हुआ जब गांधीजी की इच्छा के विरुद्ध देश ने सुभाष बोस को कांग्रेस का अध्यक्ष चुना। उसी त्रिपुरी कांग्रेस से इस क्रम का दूसरा उपन्यास 'सीधी-सच्ची बातें' शुरू होता है। सन् १९३८ से १९४८ तक का वह दशक भारतीय समकालीन इतिहास का सबसे घटनापूर्ण दशक है। सुभाष और गांधी की विचारधाराओं का टकराव, सुभाष का कांग्रेस से निष्कासन, महायुद्ध का आरम्भ, सुभाष का अन्तर्धान होकर विदेश में प्रकट होना, भारत छोड़ो का प्रस्ताव, सन् '४२ का आन्दोलन, सर स्ट्राफोर्ड क्रिप्स के प्रस्ताव, कांग्रेस के नेतृत्व में एक नैतिक विघटन के पहले लक्षण, जिन्ना, मुस्लिम लीग और साम्प्रदायिकता का उदय और अन्त में भारत-विभाजन के शर्मनाक प्रस्ताव को स्वीकृत कर रक्तरंजित स्वाधीनता का अनुदान।

और इन तमाम घटनाओं और उलझती चिन्तनधाराओं और विघटित होते

हुए मूल्यों के बीच उन साधारण लोगों की कहानी जो इन आन्दोलनों से जुड़े हैं, कुछ इन वहावों में बह जाते हैं, कुछ पलायन कर ऐश्वर्य के आसान रास्ते अपना लेते हैं, कुछ गांधीवादी नैतिकता के सीधे-सादे मूल्यों पर अड़े रहते हैं और पिछड़ जाते हैं। इस उपन्यास का अन्त उस आशावादी स्वर में नहीं होता जैसा पहले उपन्यास का है, इसके नायक की मृत्यु लगभग उसी दिन होती है जिस दिन दिल्ली में गांधीजी की हत्या होती है; लगता है एक व्यक्ति नहीं, एक नैतिक मूल्यों का युग बीत गया।

और तीसरे उपन्यास की शुरुआत होती है एक दूसरे परिप्रेक्ष्य से। 'प्रश्न और मरीचिका' का युवा नायक है 'नाम उदयराज, पिता का नाम जयराज, उम्र २१ वर्ष, जाति कोई नहीं, आने की तारीख १४ अगस्त १९४७, आने का उद्देश्य घूमना-फिरना, स्वतन्त्रता-समारोह देखना।'

पहले उपन्यास में १९वीं शताब्दी के अन्तिम दशक से जो भारतीय जीवन में उथल-पुथल शुरू हुई थी, वह दूसरे उपन्यास की राजनीतिक भूलभुलैया से होते हुए अब स्वतन्त्रता के द्वार पर खड़ी है। और तीसरे उपन्यास का युवा नायक इस स्वतन्त्रता-दिवस के जलूस के दर्शकों में अनमना खड़ा है एक चिरन्तन प्रश्नचिह्न जैसा, 'जो उत्तर है वह मर चुका है, वह विगत है। जो प्रश्न है उसी में हमारी स्थापना है, वही अदृश्य और अज्ञात है। उसी की उपलब्धि में अमरत्व है।' (प्रश्न और मरीचिका)

पर वे प्रश्न उसे कहाँ ले जाते हैं? देश में अनेक तरह के संघर्ष हैं, और उन्हीं संघर्षों का पुंजीभूत रूप है दिल्ली। यहाँ सत्ता का संघर्ष भी है और इन संघर्षों से पनपते कुछ और प्रश्न भी हैं। नेताओं का एक वर्ग है जो संघर्ष से थककर कुर्सी और ऐश्वर्य से चिपकने लग गया है, व्यापारियों का एक वर्ग है जो इस स्वतन्त्रता को अपने पक्ष में भुना रहा है, अफसरों का एक वर्ग है जो कल तक 'टोडी' था लेकिन स्वतन्त्रता आने के बावजूद और ज्यादा शक्तिशाली बन गया है और इन सबके बीच है आदमी का चरित्र जो प्रिज्म की तरह इस व्यापक विघटन और मूल्य-भ्रष्टता के नये-से-नये रंग दिखा रहा है, और अन्त में इस वैभव और चरित्र-स्खलन की एक विराट् मरीचिका है जिसमें एक प्रश्न है जो बुनियादी है, पर अनुत्तरित भटक रहा है, वही प्रश्न जिससे उपन्यास आरम्भ होता है: 'सही-गलत, कुछ है और नहीं भी है। समझ में नहीं आ रहा है। वैसे जो कुछ है वह सब गलत है और सबमें स्वयं मैं भी हूँ। हर तरफ से एक ही आवाज सुनायी देती है मुझे: मैं गलत हूँ। लेकिन मैं कहाँ से गलत हूँ, किस तरह से गलत हूँ, क्यों गलत हूँ, इन प्रश्नों का उत्तर मैं दे नहीं सकता और मैं सोच रहा हूँ कि क्या कहीं कोई उत्तर है भी?'

और उपन्यास १९४७ से आरम्भ होकर भारतीय चरित्र के पतन के अनेक गलियारों से गुजरकर १९६२ तक पहुँचता है, चीनी आक्रमण में भारत की लज्जा-जनक पराजय तक और अन्त प्रश्न से चलकर प्रश्न पर ही समाप्त होता है: 'इस यात्रा की परिणति क्या है? मैं नहीं जानता। प्रश्न ही प्रश्न हैं मेरे सामने और उत्तर में एक भटकाव, सीमाहीन, अनन्त।

'मै उठता हूँ, आलमारी से ह्विस्की की एक बोतल निकालकर एक बड़ा पेग तैयार करता हूँ, और चुपचाप बैठकर पीने लगता हूँ।'

●●●

एक प्रश्न यहाँ समीक्षक की ओर से पूछा जा सकता है कि सैकड़ों पात्रों और सैंकड़ों परिस्थितियों के बीच से १८८५ से १९६० तक लगभग पौन शताब्दी की इतनी लम्बी यात्रा के बाद क्या यह लेखक की पराजय है कि वह इस यात्रा की परिणति नहीं आँक पाता ? प्रश्न का हल नहीं ढूँढ़ पाता ? यह इस बात पर मुनहसर करता है कि आप प्रश्न उठाने को, प्रश्न उठाने की परम्परा को जीवित रखने की प्रक्रिया को जय मानते हैं या पराजय। रचना-प्रक्रिया की पीड़ा से गुजरने वाले हर ईमानदार लेखक को मालूम है कि प्रश्नों का अनुत्तरित रह जाना कितना दर्दनाक होता है। बहुधा अच्छे प्रतिभाशाली लेखक तक इस दर्दनाक स्थिति का सामना करने से घबरा गये हैं और अपने प्रश्नों के कुछ कृत्रिम बनावटी समाधानों में उन्होंने शरण खोज ली है और वहीं उन कृत्रिम समाधानों के स्थलों पर उनकी कृतियाँ कमजोर पड़ गयी हैं, नकली लगने लगी हैं। दूसरे दर्जे के मीडियाकर लेखकों के पास तो यह समस्या है ही नहीं। उनके पास हर स्थिति का कोई-न-कोई छिछला नैतिक या राजनीतिक समाधान होता ही है। लेकिन बहुधा जो जैनुइन लेखन है उसी में प्रश्न उठाने का, और नकली समाधानों के समक्ष अपना प्रश्न बरकरार रखने का साहस होता है। मानव-चिन्तन हमेशा तभी आगे बढ़ा है जब स्थापित मान्यताओं के समक्ष कोई नया प्रश्नचिह्न लगा है, फिर उसका समाधान खोजा गया है और फिर उसके अधूरेपन के समक्ष किसी बेलौस ईमानदार चिन्तक ने प्रश्नचिन्ह लगाया है। प्रश्न पूछना प्रगति करने की अनिवार्य शर्त है। और भगवती बाबू प्रश्न उठाने का साहस बरकरार रखे हुए हैं यही उनके लेखक की विजय है।

●●●

लेकिन उनके लेखक से पाठक के रूप में मेरी एक शिकायत भी है। 'भूले बिसरे चित्र' में कथाकार की जैसी पकड़ अपने पात्रों की अन्दरूनी दुनिया और बाहरी परिवेश पर है, वह 'सीधी सच्ची बातें' में थोड़ी ढीली नजर आती है, वहाँ राजनीतिक घटनाक्रम ज्यादा हावी हो गया है और मुख्य पात्र आगे चलकर हाड़-मांस की वास्तविकता के बजाय एक आदर्शनिष्ठा का प्रतीक-बिम्ब अधिक बन गया है। विश्लेषण की दृष्टि में सरलीकरण अधिक है। 'प्रश्न और मरीचिका' में पुनः उन्होंने उस सरलीकरण और आदर्शात्मक चरित्र-चित्रण का परित्याग किया है, लेकिन इस बार वे पात्रों के अन्तर और बाह्य में उस प्रकार नहीं रमे-बसे दीखते जैसे 'भूले बिसरे चित्र' में थे। इसका कारण क्या है ? समय का व्यवधान ? 'भूले बिसरे चित्र' १९५९ में लिखा गया था, 'सीधी सच्ची बातें' १९६८ में और 'प्रश्न और मरीचिका' १९७३ में। यानी पहले उपन्यास के ठीक १४ वर्ष बाद। शायद समय का इतना व्यवधान न देकर इन्हें एक क्रम में लेखक लिखता तो हो सकता है यह उतार-चढ़ाव न दीखता।

लेकिन जो भगवती बाबू से परिचित हैं वे जानते हैं, जिस भटकाव की बात वे अपने उपन्यासों में करते हैं वह उनके जीवन में भी कम नहीं है। योजनाओं की कल्पना के वे धनी हैं। कोई योजना बनवा लीजिए। हर बार मिलने पर कोई-न-कोई नयी योजना उनकी उँगलियों के पोरों पर होगी, लेकिन बीच में वे अगर भटक न जायें तो भगवती बाबू नहीं।

उनके अनेक छोटे उपन्यास 'वह फिर नहीं आयी', 'रेखा', 'सबहिं नचावत राम गोसाइँ' इस बड़ी उपन्यास-त्रयी के बीच के रचनात्मक भटकाव हैं, कुछ सुखद, सफल और कुछ यूँ ही।

लेकिन यह जानना ज़रूरी होगा कि इस प्रश्नमयी कथायात्रा का मूल कहाँ है? किस विन्दु से इस प्रश्न ने उन्हें मथना शुरू किया?

●●●

क्या आपको यह आश्चर्यजनक नहीं लगता कि जो लेखक आगे चलकर इस घटनावहुल शताब्दी के इतिहास से इतनी गहराई से संलग्न हो गया उसने अपने उपन्यास-लेखन को जिस प्रथम कृति से प्रतिष्ठित किया था वह थी 'चित्रलेखा'! इतिहास चित्रलेखा में भी था, लेकिन किस अर्थ में? वहाँ वह केवल कथा-शिल्प का एक उपकरण मात्र था। इतिहास के अनेक नाम और सारा वातावरण केवल उस मूल मानवीय प्रेम के त्रिकोण को उभारने के लिए था जहाँ वीजगुप्त, चित्रलेखा और कुमारगिरि के वीच राग और विराग, प्रवृत्ति और निवृत्ति, पाप और पुण्य का प्रश्न उभरता है। सच पूछिये तो चित्रलेखा की सारी ऐतिहासिक परिवेश की परिकल्पना परीलोक की कल्पना जैसी है जहाँ राजा हैं, महल हैं, नर्तकी है, दरवार है, जाम हैं, केवल सुविधा के लिए एक ऐतिहासिक काल की कल्पना है, वरना वह सारी कथा कालातीत है। केवल मानव-मन में घटित होती है, पाप और पुण्य के वुनियादी प्रश्न की भित्ति पर! वाहरी कुछ उस मन में घटते वाद-विवाद को प्रभावित नहीं करता। सच तो यह है कि चित्रलेखा अ-इतिहास है, समय और परिवेश के वदलावों से सर्वथा मुक्त!

वदलते समय का वृत्तियों पर प्रभाव पहली वार भगवती वावू 'तीन वर्ष' में चित्रित करते हैं और मूल मानवीय प्रश्नों के अनेकानेक राजनीतिक-ऐतिहासिक उत्तरों की उलझन-भरी जटिलता का साक्षात्कार पहली वार वे करते हैं 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में। सच तो यह है कि कुछ पाठक जो चित्रलेखा से वहुत अधिक प्रभावित थे, वे 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' तक आकर यह कहने लगे थे कि भगवती वावू अपनी लाइन से हट गये। पर अव यह स्पष्ट दीख पड़ता है 'कि टेढ़े-मेढ़े रास्ते' वस्तुतः वह दहलीज थी जहाँ से उन्होंने इस महत्त्वपूर्ण उपन्यास-त्रयी की प्रश्नमयी कथायात्रा प्रारम्भ करने की तैयारी की थी।

तो क्या 'चित्रलेखा' को इस कथायात्रा से विल्कुल अलग एक स्वतन्त्र इकाई मान लिया जावे, एक रोमानी उम्र की इन्द्रधनुषी कृति जिसमें वहुत लुभावनापन है, पर ठोस कुछ नहीं? तो उसकी इतनी लोकप्रियता का आधार क्या है? वह क्या है उसमें जिसने दो-तीन पीढ़ियों के मानस को इतना उद्वेलित किया? क्या उसमें जो कुछ था वह इस वाद के कृतित्व के लिए असंगत पड़ गया?

पिछले दिनों मैंने कुछ अन्य कारणों से भगवती वावू के उपन्यास फिर से पढ़े। क्रम यह था: पहले 'सीधी-सच्ची वातें', फिर 'प्रश्न और मरीचिका', फिर 'रेखा' और 'सबहिं नचावत राम गोसाइँ' और अन्त में 'भूले-विसरे चित्र' और न केवल भगवती वावू के कृतित्व वरन् उनके व्यक्तित्व के अनेक पहलुओं के वारे में भी सोचता रहा और उनके साथ विताई अनेक शामों की यादें और अकस्मात् एक दिन यह वात कौंधी कि जिस प्रश्न को वार-वार उन्होंने उठाया है, वह तो वही है जो उन्होंने वरसों

पहले चित्रलेखा में उठाया था। सन्दर्भ बदलते गये हैं, परिवेश अधिक सार्थक, संगत और यथार्थ होता गया है मगर समस्या वही है, 'मनुष्य का चरित्र' और उस मूल चरित्र से भटकने या उस पर कुछ कृत्रिम आरोपित कर लेने से अन्त में उसका पतन! राजनीति के झूठे-सच्चे नारों, आदर्शों के निहित स्वार्थ के लिए उपयोग, वर्गों के उत्थान-पतन के बीच, क्या बार-बार वे यह नहीं पूछते चलते कि अगर यह सब उत्थान है तो पतन क्या है ? अगर यह सही है तो गलत क्या है ? अगर यह सब पुण्य है तो पाप क्या है ? चित्रलेखा का पहला वाक्य एक प्रश्न था, 'और पाप ?' और उत्तर था कि पाप और पुण्य क्या है, केवल दृष्टि का भेद। और 'प्रश्न और मरीचिका' का पहला वाक्य है : 'सही गलत, कुछ है और नहीं भी है।' क्या इन दोनों वाक्यों की समानता आपको आश्चर्यजनक नहीं लगती ?

लेकिन यह प्रश्न वही होते हुए भी वही नहीं रहा। एक पूरी इतिहास-यात्रा में इस प्रश्न के सन्दर्भ बदल गये हैं और सन्दर्भ बदलने से प्रश्न की व्याप्ति भी कितनी बदल जाती है यह बताने की ज़रूरत नहीं। और अब लेखक दृष्टिभेद वाले उत्तर से भी सन्तुष्ट नहीं है क्योंकि अब वर्तमान भारत में अपने चरित्र से स्खलित होकर कुमारगिरि मृत्यु का वरण नहीं करते। अब वे ऊँचे, और ऊँचे आसनों पर बैठकर दूसरों पर गरीबी, अकाल और मृत्यु बरसाते हैं और इसलिए अब लगभग एक शती की कथायात्रा के बाद उपन्यासकार इस सवाल को ज्यादा व्यापक सन्दर्भ में पूछ रहा है। कितना कुछ हुआ है जिसने इस बुनियादी सवाल को घोंटना चाहा है, बहकाना चाहा है, बहलाना चाहा है, लेकिन लेखक है कि हर बार अपनी सम्पूर्ण इयत्ता के साथ फिर इस प्रश्नचिह्न को प्रतिष्ठित कर देता है, बड़ी-से-बड़ी मरीचिका में प्रश्न को मरने नहीं देता।

हाँ, दो बातें हुई हैं। एक तो उनके सौन्दर्य-बोध को गहरी चोटें लगी हैं जिसके कारण उनका व्यंग्यकार कभी-कभी सिनिक होने की सीमा तक उभर आता है, और दूसरे इतना अधिक उत्थान-पतन उन्होंने देखा है, यात्रा की थकान भी इतनी कभी-कभी महसूस करते हैं कि वे अपने को नियतिवादी घोषित करने लगे हैं। उनका व्यंग्यकार जहाँ तक सन्तुलित अपेक्षा में रहता है तो उनके लेखन को समृद्ध बनाता है, जब अन्य तत्त्वों को दबा देता है तो थोड़ा हल्कापन ले आता है जो खटकता है, पर उनका नियतिवाद ? वह एक उदासी का दर्शन है जो थकान के क्षणों में उनको अभिभूत कर लेता है। उसके लिए बहुधा वे एक लम्बा-चौड़ा तर्कपूर्ण दर्शन भी प्रस्तुत करते हैं, और चूँकि उनमें किस्सागोई का हुनर लाजवाब है, अतः उसे सुनने में बड़ा मज़ा भी आता है, पर वह जब जेनुइन लेखक के रूप में जाग्रत होते हैं तो नियतिवाद का अतिक्रमण कर जाते हैं और पूरे तेवर से दिल्ली और उस मरीचिका नगरी से उद्भूत सारी नेताशाही, अफसरशाही, बाबाशाही और थैलीशाही सफेदपोश संस्कृति के भोले-भाले छद्म पुण्यात्मा चेहरे के समक्ष रूबरू होकर पूछते हैं, 'और पाप ? तुम पुण्य हो तो पाप क्या है ?'

और इस प्रश्न को तमाम झूठे उत्तरों के समक्ष उन्होंने पराजित नहीं होने दिया है और मुझे विश्वास है कि उनकी अगली कृतियों में यह और भी गहरे सन्दर्भों में उतरेगा।

—धर्मवीर भारती

अपनी पीढ़ी का सबसे बड़ा आदमी

नाम गिनाने से कोई लाभ नहीं, लेकिन यह सत्य है कि भगवती बाबू ने जिस समय लिखना शुरू किया उस समय से आज तक की पीढ़ी में अनेक महत्वपूर्ण लेखक उनकी लेखन-यात्रा के साथी रहे हैं; जिनमें से अधिक नहीं तो कम-से-कम एक दर्जन ऐसे व्यक्ति अवश्य हैं जिनका हिन्दी-साहित्य में विशिष्ट स्थान है। अधिकांश को व्यक्तिगत रूप से जानता भी हूँ और मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं होता कि इस पीढ़ी के सबसे बड़े आदमी के रूप में मैंने भगवती बाबू को ही जाना है। लगातार काफी दिनों प्रयत्न करने के बाद भी जब मैंने भगवती बाबू के व्यक्ति में कोई कमज़ोरी खोज निकालने में अपने को असमर्थ पाया तो एक लम्बे अर्से के बाद इस दिशा में प्रयत्न करना ही छोड़ दिया। जितनी ही बार मैंने उनमें कोई कमज़ोरी ढूंढ़ने की कोशिश की, उतनी ही बार मैंने उनके एक नये रूप के दर्शन किये और उनके प्रति मेरी श्रद्धा बराबर बढ़ती गई। कई घटनाएँ-दुर्घटनाएँ इसकी साक्षी हैं।

इलाहाबाद से उन दिनों 'संगम' निकलता था। इसके सम्पादक थे पंडित इलाचन्द्र जोशी। सहायक सम्पादक के रूप में धर्मवीर भारती और रमानाथ अवस्थी काम करते थे। फिर अचानक 'संगम' का प्रकाशन बन्द हो गया। भगवती बाबू उन दिनों लखनऊ में विशेसरनाथ रोड पर एक बँगला किराये पर लेकर रह रहे थे। अगर मुझे ठीक से याद है तो वे रेडियो से नौकरी छोड़ चुके थे और जिन दिनों भगवती बाबू के पास कोई नियमित काम नहीं होता, मेरा अनुभव यह है कि उन दिनों वह उपन्यास लिखते रहते हैं और उसके बाद जो वक्त बचता है उसमें बे-सिर-पैर की और अपने हिसाब से बड़ी-बड़ी महत्त्वपूर्ण योजनाएँ बनाते रहते हैं। यह वक्त कुछ ऐसा ही था। लिहाज़ा 'उत्तरा' के प्रकाशन की योजना बनी। योजना के अनुसार 'उत्तरा' का भविष्य इतना उज्ज्वल था कि यदि प्रारूप के अनुसार योजना पूरी हो जाती तो भारत का सबसे बड़ा पत्र वही होता और भगवती बाबू देश के सबसे बड़े उद्योगपति बन चुके होते। बहरहाल 'उत्तरा' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। भगवती बाबू को एक सहायक सम्पादक की आवश्यकता थी। रमानाथ अवस्थी बेकार थे और भगवती बाबू के अपने गोलार्द्ध में उनका कोई गण बेकार हो यह बात उनके लिए हमेशा चिन्ता का विषय रही है। लिहाज़ा रमानाथ को इलाहाबाद तार भेजा

जाता है : फौरन लखनऊ आओ। दूसरे दिन रमानाथ लखनऊ प्रकट हो जाते हैं। मैं सिर्फ़ दर्शक हूँ। तीन-चार दिन तक खींचतान के बाद भी जब रमानाथ 'उत्तरा' में काम करने के लिए तैयार नहीं होते तो मेरी उत्कंठा जागृत होती है। आखिर बात क्या है? भगवती बाबू और रमानाथ के सम्बन्धों से भी मैं अवगत हूँ। पता यह लगता है कि भगवती बाबू लम्बा वेतन दिये बिना रमानाथ से काम करवाने के लिए तैयार नहीं हैं और भगवती बाबू की आर्थिक स्थिति को जानते हुए रमानाथ अपनी बेकारी की हालत में भी भगवती बाबू से वेतन लेकर 'उत्तरा' में काम करने के लिए तैयार नहीं होते। आखिर 'उत्तरा' बिना रमानाथ के निकली। लेकिन उसके बाद भगवती बाबू ने दिल्ली की कई यात्राएँ कीं। थोड़े दिन बाद 'उत्तरा' का प्रकाशन बन्द हो गया और रमानाथ को आकाशवाणी, दिल्ली में नौकरी मिल गयी।

आकाशवाणी के ही प्रसंग से याद आया, मेरे एक अन्तरंग मित्र उन दिनों कहीं आकाशवाणी के केन्द्र-निदेशक हुआ करते थे। दुर्भाग्य से उनका ट्रांसफर दिल्ली हो गया। उस समय वह दिल्ली नहीं आना चाहते थे। अपने प्रदेश के मुख्यमन्त्री से उनकी गहरी छनती थी और उनका ट्रांसफर रुकवाने के लिए मुख्यमन्त्री ने भी बहुत प्रयत्न किया लेकिन सफलता नहीं मिल सकी। एक दिन उनका टेलीफ़ोन मुझे लखनऊ में मिला। उन्होंने कहा कि मेरा तबादला हो गया है और इसे रुकवाना बहुत लाज़मी है। उस समय भारत सरकार के सूचना एवं प्रसारण सचिव, श्री आदित्य नाथ झा थे। झा साहब हमारे मुख्य सचिव रहे थे और भगवती बाबू के विशेसरनाथ रोड के खण्डहरनुमा मकान में उनके साथ भगवती बाबू की अभिन्नता को कई बार झा साहब के उन्मुक्त ठहाकों के बीच देखने-परखने का अवसर मिला था, और मैंने अपने मित्र से कह दिया कि आपका तबादला नहीं होगा। उन्होंने कहा कि यह इतना आसान नहीं है, मुख्यमन्त्री प्रयत्न करके हार चुके हैं। मैंने फिर भी उन्हें यह आश्वासन दे दिया कि तीन दिन के अन्दर आपको सम्बन्धित आदेश प्राप्त हो जायेंगे। इसके बाद मैं भगवती बाबू के पास गया। मैंने कहा कि अमुक सज्जन का तबादला दिल्ली हो गया है और वह बहुत परेशान हैं और मैंने उनसे कह दिया है कि तीन-चार दिन के अन्दर आपके पास तबादला रुकवाने के आदेश पहुँच जायेंगे। उन दिनों भगवती बाबू मेरे उस मित्र से बहुत नाराज़ थे। उन्होंने यह नाराज़गी अमृतलाल नागरी ज़ुबान में प्रकट की, जिसका शराफत की भाषा में अर्थ यह होता था कि मैं एक नितान्त ग़लत आदमी की सिफारिश कर रहा हूँ। मैंने केवल इतना कहा कि भगवती बाबू, मैं उनसे वादा कर चुका हूँ कि तीन-चार दिन में उनका तबादला रुकने के आदेश उनके पास पहुँच जायेंगे। इसके बाद और बहुत-सी बातें हुईं जैसे, दशहरी की फ़सल इस बार कहीं अच्छी नहीं हुई, लेकिन भगवती बाबू के बँगले में आम लदे पड़े हैं; काली कुतिया ने चार पिल्ले दिये हैं, तुम्हें जो पसन्द हो ले जाओ; इलाचन्द्र जोशी भाँग ज्यादा खाने लगे हैं, रागदरबारी अच्छा जा रहा है, भैया साहब कई सरकारी कमेटियों के मैम्बर हो गये हैं, बिष्ट से कहो कि जाँघिया पहनकर कॉफ़ीहाउस न आया करें, कल सबेरे पन्तजी आ रहे हैं, स्टेशन जाना है, इलाहाबाद की गर्मी पन्तजी से बर्दाश्त नहीं होती, अल्मोड़ा जा रहे हैं, लखनऊ की हवा में इस बार मार्च के अखीर तक भी हरारत नहीं पैदा हुई।

दो दिन बाद सुबह-सुबह एक अटैची लिये हुए भगवती बाबू मेरे घर पर प्रकट

हुए। रिक्शे से उतरते हैं और एक ही वाक्य बोलते हैं 'कह आया स्साले के लिए' और इसके बाद उसी रिक्शे में बैठकर वापस चले जाते हैं बिना मुझे यह मौका दिये हुए कि मैं उन्हें एक प्याला चाय भी पिला सकूं। बाद में अभय से मुझे पता चला कि उस दिन रात की गाड़ी में फर्स्ट क्लास में जगह न मिलने के कारण भगवती बाबू थर्ड क्लास में ही गये और उसी दर्जे में लौटे हैं। लखनऊ से दिल्ली की गाड़ी में जगह जरा मुश्किल से मिलती है। दूसरे दिन ही मेरे मित्र का फ़ोन आता है जिसमें मुझे यह सूचना दी जाती है कि सूचना एवं प्रसारण सचिव ने उनका तबादला रद्द कर दिया है।

लखनऊ की एक नायाब चीज़ हैं कृष्ण नारायण कक्कड़, जिनका स्वास्थ्य तब तक खराब रहता है जब तक वह किन्हीं दो मित्रों के बीच तनाव पैदा कर देने में सफल नहीं हो जाते। काफी दिनों से उनका स्वास्थ्य खराब चल रहा था कि अचानक उन्हें खबर लगी कि भगवती बाबू के नये उपन्यास पर इलाहाबाद में एक गोष्ठी हुई जिसमें पण्डित श्रीलाल शुक्ल ने उपन्यास के बारे में अच्छी राय व्यक्त नहीं की। उनके वक्तव्य का सारांश 'माध्यम' में बालकृष्ण राव ने छापा था। यह खबर कक्कड़ के लिए विटामिन का काम करने लगी। कक्कड़ का रिक्शा नियमतः सुबह ६ बजे उनके पास आता है और रात को ११-१२ बजे तक उनके साथ रहता है। उस दिन कक्कड़ सुबह ७ बजे दूसरा रिक्शा पकड़कर भगवती बाबू के घर गये और भगवती बाबू की कृतियों की काफी प्रशंसा करने के बाद (कक्कड़ साधारणतया भगवती बाबू के प्रशंसकों में नहीं हैं) उन्होंने इलाहाबाद में हुई गोष्ठी का पूरा विवरण भगवती बाबू को बताया। उनका ज़ोर इस बात पर था कि इलाहाबाद वाले भगवती बाबू के उपन्यास पर जो चाहे कहते, लखनऊ के पण्डित श्रीलाल शुक्ल को उल्टी-सीधी बात नहीं कहनी चाहिए थी।

श्रीलाल शुक्ल इलाहाबाद में बोल तो गये थे लेकिन लगता है, बाद में काफी दिन कष्ट में रहे और भगवती बाबू से नज़रें भी बचाते रहे। दिल्ली में होते तो महीनों न मिलते और फर्क न पड़ता; लेकिन लखनऊ का 'कॉफीहाउस' एक ऐसी जगह है जो चाहने पर भी किसी को शहर में अकेले रहने में सफल नहीं होने देता। इतवार को सुबह जब तक कॉफीहाउस में इडली और कॉफी न हो जाये तब तक जीवन अकारथ लगता है। इसी चक्कर में पण्डित श्रीलाल शुक्ल और भगवती बाबू की मुलाकात कॉफीहाउस में हुई। कक्कड़ इस अवसर की एक अर्से से प्रतीक्षा कर रहे थे। लेकिन जो कुछ हुआ वह बिल्कुल आशा के विपरीत था। मेरे और कक्कड़ के काफी उकसाने पर भगवती बाबू ने सिर्फ इतना ही कहा कि 'श्रीलाल चिन्ता क्यों करते हैं? इलाहाबाद स्साली जगह ही ऐसी है कि अच्छे-भले आदमी को वहाँ भेज दो वह उल्टी बात करने लगेगा।'

भारती भंडार, इलाहाबाद के व्यवस्थापक पंडित वाचस्पति पाठक भगवती बाबू के अंतरंग मित्रों में से हैं। उनकी कई पुस्तकों का प्रकाशन भी भारती भंडार से ही हुआ है। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' भी भारती भंडार से ही प्रकाशित हुई थी। इस बीच मेरे मित्र ओम्प्रकाश (राधाकृष्ण प्रकाशन) को यह लगा कि यदि 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' का एक सस्ता छात्र संस्करण निकाल दिया जाये तो वह कई विश्वविद्यालयों में लग सकता है। वाचस्पति पाठक और भगवती बाबू के सम्बन्धों को देखते हुए ओम्प्रकाश के लिए यह काम काफी कष्टसाध्य था। ओम्प्रकाश साधारणतया हार मानने वाले

जीव नहीं हैं । धीरे-धीरे कई किश्तों में भगवती वाबू से बातचीत के वाद ऐसा लगा कि शायद भगवती वाबू विना भारती भंडार से सम्बन्ध-विच्छेद किये हुए यानी मूल पुस्तक भारती भंडार के पास रहने देकर केवल छात्र संस्करण ओम्प्रकाश को देने के लिए तैयार हो जायेंगे । लिहाजा एक अनुबन्ध बनाया गया जिस पर भगवती वाबू के हस्ताक्षर लेने के लिए ओम्प्रकाश लखनऊ गये । अनुबन्ध में रायल्टी २० प्रतिशत दिखायी गयी थी जबकि साधारणतया वह केवल १५ प्रतिशत होती थी । भगवती वाबू सिद्धान्ततः यह प्रस्ताव स्वीकार कर ही चुके थे । उन्होंने अनुबन्ध पर हस्ताक्षर कर दिये, केवल रायल्टी की राशि २० प्रतिशत से घटाकर १५ प्रतिशत कर दी ।

इस प्रकार की अनेक स्थितियों के वीच मैंने भगवती बाबू के चरित्र को नजदीक से देखा है । अनन्त कथाएँ हैं—कुछ कहने लायक, कुछ न कहने लायक भी ।

बड़ा आदमी होने के लिए लोग जो कुछ करते हैं, भगवती वाबू ने वह कुछ भी नहीं किया, उनके वड़प्पन की यह अदा ही उन्हें असाधारण बनाती है । घण्टों उनके पास बैठे रहने पर भी क्षण-भर के लिए भी आपको यह नहीं लगेगा कि आप इतने वड़े आदमी के पास वैठे हैं । लेखक वहुत हैं और हिन्दी में इस जाति की संख्या में वृद्धि तेजी से हो रही है । हो सकता है कि उनसे वड़ा लेखक हमारे वीच में हो और मैं उससे परिचित होने से वंचित रह गया हूँ, हो सकता है कि उनके कृतित्व के वारे में मेरी धारणाएँ गलत हों, मैं अपने को साहित्य का कोई वड़ा पारखी नहीं समझता, पर आदमी, हाँ आदमी को समझने-परखने की कला मुझे आती है । एक तरह से मेरा धन्धा ही यही है और आदमी भगवती वावू वड़े हैं—इतने वड़े कि उनके कन्धों तक पहुँचना भी साधारण काम नहीं ।

—सुरेन्द्र तिवारी

अर्पित मेरी भावना

श्री भगवतीचरण वर्मा की प्रतिनिधि रचनाएँ

कल सहसा यह सन्देश मिला

कल सहसा यह सन्देश मिला
सूने से युग के बाद मुझे,
कुछ रोकर, कुछ क्रोधित होकर
तुम कर लेती हो याद मुझे।
गिरने की गति में मिलकर मैं
गतिमय होकर गतिहीन हुआ।
एकाकीपन से आया था,
अब सूनेपन में लीन हुआ।
यह ममता का वरदान सुमुखि
है अब केवल अपवाद मुझे।
मैं तो अपने को भूल रहा,
तुम कर लेती हो याद मुझे।

पुलकित सपनों का क्रय करने
मैं आया अपने प्राणों से;
लेकर अपनी कोमलता को
मैं टकराया पाषाणों से।
मिट-मिटकर मैंने देखा है
मिट जाने वाला प्यार यहाँ;
सुकुमार भावना को अपनी
बन जाते देखा भार यहाँ;
उत्तप्त मरुस्थल बना चुका
विस्मृति का विषम विषाद मुझे;
किस आशा से, छवि की प्रतिमा!
तुम कर लेती हो याद मुझे?

हँस-हँसकर कब से मसल रहा
हूँ मैं अपने विश्वासों को,
पागल बनकर मैं फेंक रहा
हूँ कब से उलटे पाँसों को।
पशुता से तिल-तिल हार रहा
हूँ मानवता का दाँव अरे।
निर्दय व्यंगों में बदल रहे
मेरे ये पल अनुराग भरे।
बन गया एक अस्तित्व अमिट
मिट जाने का अवसाद मुझे;
फिर किस अभिलाषा से रूपसि
तुम कर लेती हो याद मुझे?

यह अपना-अपना भाग्य, मिला
अभिशाप मुझे, वरदान तुम्हें।
जग की लघुता का ज्ञान मुझे,
अपनी गुरुता का ज्ञान तुम्हें।
जिस विधि ने था संयोग रचा,
उसने ही रचा वियोग प्रिये!
मुझको रोने का रोग मिला,
तुमको हँसने का भोग प्रिये!
सुख की तन्मयता तुम्हें मिली,
पीड़ा का मिला प्रसाद मुझे।
फिर एक कसक बनकर अब क्यों
तुम कर लेती हो याद मुझे?

—'प्रेमसंगीत' से

हम खण्डहर के वासी

हमारी सारी ज़िन्दगी सुख और शान्ति की तलाश में बीती है, और यह सुख और शान्ति की तलाश अब भी जारी है। तो इसी सुख और शान्ति को ढूँढ़ते-ढूँढ़ते हम लखनऊ पहुँचे और यहाँ अपना मकान बनाकर बस भी गये।

वैसे हम निहायत उखड़े हुए किस्म के आदमी हैं। इसका अनुभव हमें उसी समय हो गया था जब हमने यह कविता लिखी थी :

हम दीवानों की क्या हस्ती
हैं आज यहाँ कल वहाँ चले,
मस्ती का आलम साथ चला
हम धूल उड़ाते जहाँ चले।

कहने को तो हम रहने वाले कानपुर के हैं, जहाँ हमारे बाप-दादों का पुश्तैनी मकान था। मकान तो अब भी है लेकिन बिक गया है और उस पर कब्ज़ा दूसरों का हो गया है, जिनके साथ हमारी पूरी सहानुभूति है। बहरहाल, इस कानपुर का नाम सुनकर अब भी एक कँपकँपी-सी उठ पड़ती है सारे शरीर में। इसके बाद हम पहुँचे उच्च शिक्षा के केन्द्र इलाहाबाद में। तबीयत खुश हो गयी। कला, पांडित्य ! सोचा, इस इलाहाबाद में ही बस जायें, लेकिन वहाँ न रोज़ी, न रोटी; तो वहाँ से भागना पड़ा। धुर पूरब का रास्ता पकड़ा। पहुँच गये कलकत्ता।

और कलकत्ता नगर देखकर हम दंग रह गये। क्या शानदार इमारतें, क्या शानदार मैदान, चहल-पहल और रेलपेल से युक्त यह महानगर ! बहुत जल्दी हम वहाँ के जीवन में घुल-मिल गये, ऐसा लगा कि हम जनम-जनम से यहाँ के वासी हैं। वहाँ बसने की सोच ही रहे थे कि एकाएक हम उखड़ गये। वैसे हम साहित्य में जम रहे थे। तो बुलावा आया बम्बई की फिल्मी दुनिया से। जवानी का जोश, तबियत में रंगीनी, हम बम्बई पहुँचे और लगा कि हम अपने कल्पना के स्वर्ग में पहुँच गये हैं। लहराता हुआ समुद्र, इधर-उधर खूबसूरत छोटी-छोटी पहाड़ियाँ, ऊँची-ऊँची शानदार इमारतें, काम-काज, बातचीत—सब कुछ क़रीने से। फिर हीरो-हीरोइनों के नित्य दर्शन। साहित्यिक जमावड़ा भी जमने लगा।

और तभी न जाने कैसी हुड़क उठी कि हम एकाएक वहाँ से उखड़ गये।

उत्तर का रास्ता नापा, लखनऊ आये। पहली नज़र में लखनऊ कुछ अजीब तरह से सोया हुआ नगर लगा। दिन काटने थे, तो काट रहे थे। तभी दिल्ली से बुलावा आ गया।

दिल्ली, अपने देश की राजधानी। राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री, बड़े-बड़े नेता, बड़े-बड़े अफसर। पूरा राजसी वैभव। मैथिली बाबू, बालकृष्ण 'नवीन', दिनकर, बच्चन, नगेन्द्र। यहाँ तक कि जैनेन्द्र और अज्ञेय—सभी वहाँ मौजूद। लेकिन लगा कि दिल्ली सैलानियों की जगह है, यहाँ बसना बहुत कम लोगों के बस की बात है। यहाँ आदर पद और अधिकार का है, व्यक्ति का नहीं है। मन में आया कि यहाँ बस जाया जाये, लेकिन राजनीति में जो कुंठा है, जो भयानक कशमकश है, उससे घबराकर हम तीन साल में ही वहाँ से भागकर लखनऊ वापस आये। और इस दफ़े लखनऊ बड़ा प्यारा शहर दिखा, तो हमने मन को समझाया :

बहुत भ्रमा मन, अब मत भ्रम रे !

और सुयोग ऐसा आया कि बिना किसी सोच-विचार के, बिना किसी योग्यता के, बिना किसी पूँजी के अपना एक शानदार मकान भी बन गया यहाँ पर।

हम लखनऊ में बस गये। अपना एक शानदार मकान जो बनवाया यहाँ पर, दर्जनों नाते-रिश्तेदार, दोस्त अहबाब। फिर भारतवर्ष के सबसे बड़े और महत्त्वपूर्ण प्रदेश की राजधानी भी यह लखनऊ है। लेकिन इधर कुछ दिनों से ऐसा लगने लगा है कि हम कहीं कोई गलती कर बैठे हैं। और अब वह गलती नहीं सुधारी जा सकती। हम खण्डहर में बस गये हैं यानी हमारा मतलब यह है कि हमें अब आकर पता चला कि हम खण्डहरों के शहर में बसकर धीरे-धीरे खुद खण्डहर बनते जा रहे हैं।

हम दावे के साथ कह सकते हैं कि यह शहर खण्डहरों का शहर है। जिधर निकल जाइए, खण्डहर ही खण्डहर दिखेंगे। महलों के खण्डहर, हवेलियों के खण्डहर, मन्दिरों और मस्जिदों के खण्डहर, इमामबाड़ों के खण्डहर। हमारे मित्र श्री अमृतलाल नागर का कहना है कि इन खण्डहरों में ही लखनऊ का इतिहास है, और उनकी बात का विरोध हम कतई नहीं कर सकते। इतिहास स्वयं में खण्डहरों की कहानी है।

सारा शहर खण्डहरों से भरा पड़ा है, और खण्डहरों को सुरक्षित रखने के लिए जो कानून बन गया है, उसके अनुसार इन खण्डहरों को लोप होने से बचाया जा रहा है। लाखों रुपये इन खण्डहरों को बदस्तूर कायम रखने के लिए खर्च किये जा रहे हैं। बढ़ती हुई आबादी, बढ़ते हुए खण्डहर। कहने को यह सब बड़ा अजीब-सा लग रहा है। लेकिन इस लखनऊ में यह सब अचम्भे वाली वास्तविकता है।

दुनिया की आबादी बेतहाशा बढ़ रही है, आदमी बेतरह फैलता जा रहा है। आदमी के इस फैलाव से जमीन सिमटती-सी मालूम हो रही है। तो लोगों ने इर्द-गिर्द फैलने की जगह ऊपर की तरफ फैलना आरम्भ कर दिया है। अनेक मंजिलों के मकान बन रहे हैं दुनिया के विभिन्न नगरों में। अमरीका में तो सौ मंज़िलों से अधिक की इमारतें बन गयी हैं। दूर क्यों ज़ायें ? कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली—यहाँ भी पच्चीस-तीस मंजिलों की इमारतें धड़ाधड़ बनती जा रही हैं, लेकिन ऊपर की तरफ फैलने का मर्ज लखनऊ को अभी तक नहीं लगा है। वैसे शहर बढ़ रहा है उत्तर-दक्षिण, पूरब-पश्चिम, लेकिन ऊपर की तरफ फैलने से लखनऊ वाले डरते हैं। आस-

मान तो चील-कौओं के लिए है, फिर इसके बाद पतंगों का नम्बर आता है। तो लखनऊ में ऊँची इमारतें नहीं दिखेंगी। और यह शायद इसलिए कि इमारतों की तरह यहाँ के आदमियों में खण्डहरों की परम्परा है। यानी लखनऊ के नागरिकों में भी अधिकांश खण्डहर किस्म के आदमी दिखेंगे।

लखनऊ का आदमी निहायत पिसा हुआ, दब्बू और अहिंसक किस्म का आदमी होता है। सड़ाँध और घुटन से भरी तंग गलियाँ, टूटे-फूटे मकान, यहीं पर पुराने निवासियों की आबादी है। अभावों से ग्रस्त, अज्ञान और अन्धविश्वासों से लदा हुआ, अपनी नेकी पर कायम रहता हुआ और दूसरों की बदी का प्रतिकार न कर सकने वाला यहाँ का खण्डहरनुमा आदमी अजायबघर का आदमी दिखता है। इसके चारों तरफ शोषण और उत्पीड़न का जाल बिछा हुआ है। चोर-बजारिये, मुनाफ़ाखोर, पग-पग पर रिश्वत लेने वाले, टैक्सों की भरमार, बसों की दरें बेतहाशा बढ़ी हुई, यानी हर तरफ लूट-खसोट, बड़ी कड़ी जान है यहाँ के आदमी की, जो निकलती ही नहीं, वरना मौत के सारे सामान यहाँ मौजूद हैं।

यहाँ के आदमी के क्या कहने ! बड़ा भोला, बड़ा सरल, बड़ा अज्ञानी और बड़ा बेदिमाग। जो चाहे, उसे फुसला ले। शायद यह भूलने के लिए कि वह खण्डहर के मानिंद है, अपने को जाल-फरेब में फँसाने के लिए जैसे तैयार खड़ा रहता है। बड़े-बड़े राजे-नवाब, सेठ-साहूकार, अमीर-उमरा—ये शोषक किस्म के जबर्दस्त आदमी धीरे-धीरे खण्डहर बनकर उन्हीं लोगों में शामिल हो गये हैं, और आज जो नये-नये शोषक और शासक आते जा रहे हैं, वे भी इन्हीं खण्डहरों में शामिल होने की तैयारी में हैं।

यहाँ के आदमी की जिम्मेदारियाँ तो हैं, लेकिन उसे अपने अधिकारों का पता नहीं है। जिम्मेदारियों का ज्ञान तो रोज ही सरकारी टैक्स-वसूली और सरकारी लूट-खसोट वाले दण्ड से हुआ करता है, लेकिन अधिकारों का ज्ञान स्वयं अपने अन्दर से होता है। और जैसे इस आदमी के अन्दरवाला अपनापन मर गया है, यह खण्डहर बन चुका है। हरेक मुसीबत के लिए भाग्य को कोसना और भगवान के आगे रोना-गिड़गिड़ाना ही यह जानता है। और इस कोसने, गाली देने, रोने-कलपने से त्राण पाने के लिए यह आदमी हँसता भी है। बड़ी खोखली हँसी, जुलूस निकलते हैं, नारे लगते हैं और तमाशा देखने के लिए यहाँ के लोग तमाशबीनों की हैसियत से इन जुलूसों और नारों में शामिल भी हो जाते हैं, लेकिन यह सब वे करते हैं अपने अन्दर की घुटन को भूलने के लिए, तफरीह के रूप में ही। इनमें यह दम नहीं कि अपने भाग्य का निर्णय खुद करें, लूट-खसोट, शोषण-उत्पीड़न का जमकर विरोध करें, लखनऊ वालों की सब-कुछ सहन करने की परम्परागत इस प्रवृत्ति को कुछ लोग कायरता की संज्ञा दे सकते हैं, लेकिन हम कहते हैं कि वह कायरता नहीं, प्राणहीनता है, यहाँ का आदमी भी खण्डहर बन चुका है।

लखनऊ की अपनी निजी सभ्यता है, संस्कृति है। यहाँ मन्दिर हैं, मस्जिद हैं, गिरिजाघर हैं, गुरुद्वारे हैं, बौद्धों का विहार है, जैनियों के न जाने कितने संस्थान हैं, पारसियों के भी पूजागृह हैं, इन सबों में कहीं किसी तरह का आपसी विरोध नहीं है। विरोध और विद्रोह तो राजनीतिक नेता अपने स्वार्थों के लिए खड़ा कर देते हैं। यद्यपि प्रदेश की राजधानी होने के कारण विभिन्न दलों के राजनीतिक नेता

यहाँ फैले हुए हैं लेकिन लखनऊ के जन-जीवन को प्रभावित करने में ये लोग शायद ही कभी सफल हो पाते हैं।

तो वे जो धार्मिक विश्वास, आस्थाएँ और मान्यताएँ हैं, वे आज के बौद्धिक युग में दुनिया के अनेक भागों से गायब होती जा रही हैं और हिन्दुस्तान के कुछ भागों से गायब हो चुकी हैं, सिवा राजनीतिक रूप में; लेकिन ये आस्थाएँ और विश्वास अपनी तमाम शीलता और धर्म-निरपेक्षता के साथ लखनऊ नगर में बदस्तूर कायम ही नहीं हैं बल्कि तेज़ी के साथ बढ़ते जा रहे हैं। हरेक शुक्रवार को हज़ारों आदमी सामूहिक रूप से मस्जिदों में नमाज़ पढ़ते हैं। दूसरे मज़हबवाले भी अपने-अपने कार्य-क्रम बड़ी शान के साथ चलाते हैं। हरेक अफ़सर के यहाँ से सुबह के समय फोन करने पर जवाब मिलता है: 'साहेब पूजा पर बैठे हैं,' गो कि आधी रात तक कुछ लोग ह्विस्की की पार्टियों में भले ही मस्त रहे हों। सन्तों की सभाएँ होती हैं, कीर्तन होता है, पीरों और औलियों की कब्रों पर उत्सव होते हैं।

लेकिन यह सब धर्म और संस्कृति के खण्डहरों की चहल-पहल के रूप में समझा जा सकता है। नवाबों के लोप होने से नयी शानदार मस्जिदें और इमामबाड़े बनने बन्द हो गये हैं। बिड़ला और सिंहानियों के मुकाबले के सेठ यहाँ हैं नहीं कि लक्ष्मीनारायण या राधाकृष्ण के शानदार मन्दिर बनवा दें। तो यहाँ खण्डहरों से ही काम चलाया जा रहा है।

लखनऊ की सभ्यता और संस्कृति विकृत रूपवाले खण्डहर बन चुके हैं। यहाँ के रवीन्द्रालय में शहर में आनेवाले लोगों के नये ढंग के ड्रामे होते हैं, संगीत होता है, नृत्य होते हैं, लेकिन यहाँ कोई असली नयी चीज़ नहीं आने पाती। यहाँ चिकन का काम होता है, मिट्टी के खिलौने बनते हैं, लेकिन चिकन पर काम करने वाले और मिट्टी के खिलौने बनाने वाले भूखों मर रहे हैं।

रहन-सहन, वेश-भूषा, रीति-रिवाज—ऊपर से सब-कुछ बदला हुआ दिखता है, लेकिन इस सबका असली रूप यही खण्डहरों का रूप है। कहीं प्राण नहीं, कहीं उमंग और उल्लास नहीं!

लखनऊ हमारे प्रदेश की राजधानी है, और आठ करोड़ के ऊपर की आबादी वाला यह प्रदेश हिन्दुस्तान का निहायत पिछड़ा हुआ और गरीब प्रदेश है। यह लखनऊ की खण्डहरों वाली परम्परा यहाँ की राजनीति की भी परम्परा बन रही है।

यहाँ की राजनीति में जो कुछ हो रहा है वह खुदबखुद होता जा रहा है, उसे करनेवाला जैसे कोई न हो। सरकारें खुदबखुद बनती हैं, खुदबखुद टूट भी जाती हैं। कहीं स्थायित्व नहीं, कहीं कोई आदर्श अथवा सिद्धान्त नहीं। यहाँ के राजनीतिक नेता न खुद सोचते हैं, न खुद समझते हैं। वे तो दूसरों की जयजयकार भर करते हैं। गांधी और नेहरू के मन्दिर खण्डहर बन चुके हैं। कसमसाते हुए, गाली देते हुए यहाँ के निवासी इन्हीं खण्डहरों की पूजा कर रहे हैं। नये मन्दिर बन ही नहीं पाते।

गांधीवाद, समाजवाद, सांप्रदायिकतावाद, इनके खण्डहरों के अवशेष लखनऊ के कॉफीहाउस या होटलों में डोलते हुए दिखेंगे। पता नहीं, ये वाद असली हैं या दिखावे के हैं।

और नेताओं के दरबार जमा करते हैं जहाँ झूठ, खुशामद और छल-कपट का बाज़ार गर्म रहता है। इसके सामने उसकी निन्दा और उसे गाली, उसके सामने

इसकी निन्दा और इसे गाली, पुराने नवाबों और ताल्लुकेदारों के यहाँ भी तो यही सब होता था। नारे लगाते हुए, गालियाँ बकते हुए नेता, और ताली बजाता हुआ तमाशबीनों का जमघट—गाली-गलौज और कभी-कभी धौल-धप्पा—इनका बोलबाला है राजनीति में। पुलिस अधिकारियों को रिश्वत देकर अदालतों से नित्य मुक्त होता हुआ आदमी लगातार लूट रहा है और अपने चन्दों से नेताओं को लगातार खरीद रहा है और जनता लगातार पिस रही, हाय-हाय कर रही है। तो यहाँ की राजनीति शुद्ध रूप से खण्डहरों की राजनीति है। लखनऊ की खण्डहरों की परम्परा में पड़ा हुआ यह समस्त प्रदेश खण्डहरोंवाली राजनीति के दौर से गुज़र रहा है—असम्पन्न, पिछड़ा हुआ और गरीब।

लेकिन अजीब प्यारा शहर है यह लखनऊ। एक अजीब तरह की शांति हमें अनुभव होती है इस शहर में। न यहाँ दंगे होते हैं, न यहाँ गोलियाँ चलती हैं, न यहाँ राजनीतिक हत्याएँ होती हैं। 'कम खाओ और गम खाओ' वाली कहावत यहाँ चरितार्थ होती है। बुरा हो इन बाहरवालों का, कोई साहब मेरठ-बुलन्दशहर से चले आ रहे हैं, कोई बनारस-मिर्जापुर से चले आ रहे हैं, कोई झाँसी या जालौन से चले आ रहे हैं, कोई आजमगढ़-बलिया से चले आ रहे हैं। तो इन लोगों ने लखनऊ को जैसे तबाह करने का बीड़ा उठा लिया है। ये सब-के-सब निहायत जवाँमर्द और लड़ाकू किस्म के आदमी, तिकड़म और छल-कपट के हब्बों से लैस, ये सब यहाँ इकट्ठा हो गये हैं। लेकिन वाह रे लखनऊ! इनमें हरेक आदमी या तो खण्डहर बन चुका है, या खण्डहर बन रहा है।

हम सोच रहे हैं कि कहाँ आकर बस गये, और फँस गये इस शहर में हिन्दुस्तान के बड़े-बड़े नगरों को छोड़कर। चक्कर सब जगह लगाये, जब बसने की बारी आयी, तब लखनऊ ही चुना। तो लगता है कि यह खण्डहरों का शहर ही हमें प्रिय लगा, क्योंकि हम सबके अन्दर एक खण्डहर है—आशा का, आस्था का और अभिलाषा का। और इसलिए हमें अपने से सन्तोष है, क्योंकि कोई अन्य चारा ही नहीं है। तो हम कभी-कभी गुनगुना उठते हैं :

हम खँडहर के वासी, साधो,
हम खँडहर के वासी।
ज्ञान हमारा बड़ा अटपटा
मति है सत्यानासी॥
हम तो जनम-जनम के मूरख,
जग है निपट बिसासी।
दास भगौती अपनी ही गति
लखि-लखि आवत हाँसी॥
साधो हम खण्डहर के वासी।

—स्फुट निबन्ध, 'धर्मयुग' में प्रकाशित

हम दीवानों की क्या हस्ती

हम दीवानों की क्या हस्ती,
हैं आज यहाँ, कल वहाँ चले;
मस्ती का आलम साथ चला,
हम धूल उड़ाते जहाँ चले;
आये बनकर उल्लास अभी
आँसू बनकर बह चले अभी;
सब कहते ही रह गये, अरे
तुम कैसे आये, कहाँ चले? ॥१॥

किस ओर चले? यह मत पूछो;
चलना है, बस इसलिए चले,
जग से उसका कुछ लिये चले;
जग को अपना कुछ दिये चले,
दो बात कही, दो बात सुनी,
कुछ हँसे और फिर कुछ रोये।
छककर सुख-दुख के घूंटों को
हम एक भाव से पिये चले ॥२॥

हम भिखमंगों की दुनियाँ में
स्वच्छन्द लुटाकर प्यार चले;
हम एक निशानी-सी उर पर
ले असफलता का भार चले;
हम मानरहित, अपमानरहित
जी भरकर खुलकर खेल चुके;
हम हँसते-हँसते आज यहाँ
प्राणों की बाजी हार चले ॥३॥

हम भला-बुरा सब भूल चुके,
नत मस्तक हो मुख मोड़ चले;
अभिशाप उठाकर होंठों पर
वरदान दृगों से छोड़ चले;
अब अपना और पराया क्या?
आबाद रहें रुकने वाले।
हम स्वयम् बँधे थे, और स्वयम्
हम अपने बन्धन तोड़ चले ॥४॥

—'प्रेम संगीत' से

चित्रलेखा

छलकते हुए मदिरा के पात्र को चित्रलेखा के मुख से लगाते हुए बीजगुप्त ने कहा, 'चित्रलेखा ! जानती हो, जीवन का सुख क्या है ?'

चित्रलेखा की अधखुली आँखों में मतवालापन था और उसके अरुण कपोलों में उल्लास था। यौवन की उमंग में सौन्दर्य किलोलें कर रहा था, आलिंगन के पाश में वासना हँस रही थी। चित्रलेखा ने मदिरा का एक घूंट पिया। इसके बाद वह मुस्करायी। एक क्षण के लिए उसके अधरों ने बीजगुप्त के अधरों से मौन भाषा में कुछ बात कही; फिर धीरे से उसने उत्तर दिया, 'मस्ती !'

उस समय प्राय: आधी रात बीत चुकी थी। बीजगुप्त का भवन सहस्त्रों दीप-शिखाओं से आलोकित हो रहा था, द्वार पर शहनाई में विहाग बज रहा था। केलि-भवन में नगर की सर्वसुन्दरी नर्तकी के साथ सामन्त बीजगुप्त यौवन की उमंग में निमग्न था और बाहर गहरे अन्धकार में सारा विश्व।

बीजगुप्त हँस पड़ा, 'सोच रहा हूँ चित्रलेखा, यौवन का अन्त क्या होगा ?'

चित्रलेखा भी हँस पड़ी, पर हँसी क्षणिक थी; अचानक ही वह मीठी और उल्लास से भरी हँसी वेदनामिश्रित गम्भीरता में परिणत हो गयी। उसने भी शायद कभी इसी प्रश्न का उत्तर पाने की चेष्टा की थी, पर प्रश्न इतना भयानक था कि वह उस पर अधिक देर तक सोच न सकी थी। उसका सिर घूमने लगा था और इसके बाद मदिरा के पात्र में उस समय के लिए उसने उस दुखद विचार को डुबो दिया था। आज एकाएक फिर उसी प्रश्न को सुनकर वह चौंक उठी, 'जीवित मृत्यु !'

'जीवित मृत्यु ! नहीं, यह असम्भव है। यौवन का अन्त है एक अज्ञात अन्धकार, और उस अज्ञात अन्धकार के गर्त्त में क्या छिपा है, वह न तो मैं जानता हूँ, और न उसके जानने की कोई इच्छा ही है। भूत व भविष्य, ये दोनों ही कल्पना की चीजें हैं, जिनसे हमको कोई प्रयोजन नहीं, वर्तमान हमारे सामने है और वह···' बीजगुप्त रुक गया, शायद वह आगे के शब्दों को ढूंढ़ने लगा था।

'और वह उल्लास-विलास है, संसार का सारा सुख है, यौवन का सार है।' चित्रलेखा ने हँसते हुए वाक्य पूरा कर दिया।

बीजगुप्त ने चित्रलेखा को आलिंगन-पाश में लेकर कहा, 'तुम मेरी मादकता हो।'

चित्रलेखा ने उत्तर दिया, 'और तुम मेरे उन्माद हो।'

बीजगुप्त ने हँसकर कहा, 'मादकता और उन्माद—इन दोनों का सदा साथ रहा है और रहेगा। चित्रलेखा, हम दोनों कितने सुखी हैं!' उस समय चित्रलेखा भी हँस रही थी।

इसी समय शहनाई का बजना बन्द हो गया, प्रहरी ने उच्च स्वर में कहा, 'श्रीमान्! द्वार पर अतिथि हैं, क्या आज्ञा है?'

बीजगुप्त ने आलिंगनपाश ढीला कर दिया। चित्रलेखा उससे कुछ दूर हटकर बैठ गयी। बीजगुप्त ने परिचारिका से कहा, 'अतिथियों को यहीं आने दो।' इतना कहकर उसने मदिरा का पात्र खाली कर दिया।

अर्धरात्रि के समय कौन-से अतिथि आ सकते हैं, बीजगुप्त इसी विषय पर सोच रहा था; उसी समय श्वेतांक के साथ रत्नाम्बर ने बीजगुप्त के केलिगृह में प्रवेश किया। रत्नाम्बर को देखकर बीजगुप्त ने उठकर अभिवादन किया और चित्रलेखा ने अपना मस्तक नीचा कर लिया।

केलिगृह को एक बार अच्छी तरह से देखने के बाद रत्नाम्बर की आँखें चित्रलेखा पर रुक गयीं। थोड़ी देर तक रुककर रत्नाम्बर ने कहा, 'नगर की सर्व-सुन्दरी तथा पवित्र नर्तकी अर्धरात्रि के समय बीजगुप्त के केलिगृह में! आश्चर्य होता है।' इतना कहकर रत्नाम्बर आसन पर बैठ गये। श्वेतांक खड़ा ही रहा।

बीजगुप्त ने रत्नाम्बर से पूछा, 'महाप्रभु ने किस कारण दास पर कृपा करने का इस समय कष्ट उठाया?'

रत्नाम्बर हँस पड़े, 'बीजगुप्त, तुमसे सब बातें स्पष्ट रूप से कहूँगा। आज मेरे इस शिष्य ने मुझसे प्रश्न किया कि पाप क्या है? मैं इसका उत्तर देने में असमर्थ हूँ। तुम मेरी सहायता कर सकते हो। तुम मेरे शिष्य रहे हो, मैंने कभी तुमसे कोई गुरुदक्षिणा नहीं ली। पाप का पता लगाने के लिए ब्रह्मचारी की कुटी उपयुक्त स्थान नहीं है; संसार के भोग-विलास में ही पाप का पता लग सकेगा। तुम्हारा भवन और तुम्हारा समाज—इन चीज़ों से श्वेतांक को भिज्ञ करना आवश्यक है, इसलिए मैं इसको तुम्हारे सामने सेवक रूप में उपस्थित कर रहा हूँ। मैं चाहता हूँ कि तुम इसे सेवक रूप में स्वीकार करो। पर एक बात और याद रखना: यह तुम्हारा गुरुभाई भी हो सकता है।'

'महाप्रभु की आज्ञा शिरोधार्य है।' बीजगुप्त ने अपना मस्तक नमा दिया।

'अच्छा! मैं जाता हूँ, मेरा एक काम पूरा हो गया। और श्वेतांक, यह याद रखना कि बीजगुप्त तुम्हारे प्रभु हैं और तुम इनके सेवक। इस वैभव को भोगो और फिर पाप का पता लगाने का प्रयत्न करो। अच्छा और बुरा, यह तुम्हारे सामने आयेगा। पर इस कसौटी पर ध्यान रखना कि अच्छी वस्तु वही है जो तुम्हारे वास्ते अच्छी होने के साथ ही दूसरों के वास्ते भी अच्छी हो। और बीजगुप्त! तुम से केवल यही कहना है कि श्वेतांक के दोषों को क्षमा करना। यह अभी अबोध है, संसार में यह अभी पदार्पण ही कर रहा है।' इतना कहकर रत्नाम्बर केलिभवन से चले गये।

रत्नाम्बर के जाने के बाद बीजगुप्त ने श्वेतांक को बड़े गौर से देखा। 'तुम्हारा नाम श्वेतांक है और तुम आज से मेरे सेवक हुए।' इतना कहने के बाद बीजगुप्त के मुख पर हल्की-सी मुस्कराहट दौड़ गयी। चित्रलेखा की ओर संकेत करके

बीजगुप्त ने कहा, 'जानते हो श्वेतांक, यह कौन हैं ?'

श्वेतांक की आँखें रात्रि के समय प्रकाश से जगमगाते हुए सुसज्जित केलिभवन में चित्रलेखा के मादक सौन्दर्य को देखकर चकाचौंध हो गयीं। उसने कहा, 'नहीं।'

'अच्छा तो सुनो। इनका नाम चित्रलेखा है, और यह पाटलिपुत्र की सर्व-सुन्दरी नर्तकी होते हुए भी मेरी पत्नी के बराबर हैं। इसीलिए यह तुम्हारी स्वामिनी भी हुईं।' इतना कहकर बीजगुप्त हँस पड़ा। 'तुम आश्चर्य में आ गये होगे; पर आश्चर्य करने की कोई बात नहीं। यहाँ रहकर तुम परिस्थितियों को अपना सकोगे। अच्छा, यह मदिरा का पात्र अपनी स्वामिनी को दो।' इतना कहकर बीजगुप्त ने सुगन्धित मदिरा से भरा हुआ स्वर्णपात्र श्वेतांक के हाथ में दे दिया।

श्वेतांक ने मदिरा का पात्र चित्रलेखा की ओर बढ़ा दिया। मदिरा का पात्र लेते हुए श्वेतांक का हाथ चित्रलेखा के हाथ से स्पर्श कर गया। इस स्पर्श से श्वेतांक का सारा गात काँप-सा उठा। चित्रलेखा ने श्वेतांक की ओर देखा, 'नवयुवक, तुम्हें इस अनोखे संसार में प्रथम बार आने के उपलक्ष्य में बधाई है!' इतना कहकर उसने मदिरा का पात्र खाली कर दिया।

उसी समय प्रहरी ने उच्च स्वर में कहा, 'शयन का समय हो गया।' बीजगुप्त ने चित्रलेखा से पूछा, 'यहाँ रहोगी, या अपने भवन को जाओगी ?'

चित्रलेखा उठ खड़ी हुई। द्वार की ओर बढ़ते हुए उसने कहा, 'अपने भवन को ही इस समय जाना उचित होगा; पर शायद अकेली न जा सकूँगी।' उस समय उसके पैर लड़खड़ा रहे थे।

परिचारिका ने केलिगृह में प्रवेश किया। बीजगुप्त भी उठ खड़ा हुआ, 'हाँ, इस समय अकेले जाना वास्तव में असम्भव होगा।'

कुछ देर सोचकर बीजगुप्त ने श्वेतांक से कहा, 'द्वार पर रथ खड़ा है। उसमें बिठलाकर तुम अपनी स्वामिनी को उनके भवन तक पहुँचा दो। उस समय तक तुम्हारे शयन-गृह का प्रबन्ध हो जायेगा।'

श्वेतांक चित्रलेखा के साथ चला गया। बीजगुप्त ने परिचारिका को श्वेतांक के शयन-गृह का प्रबन्ध कर देने की आज्ञा देकर निद्रादेवी की शरण ली।

□ □

कुमारगिरि योगी था।

योगी ? हाँ, क्योंकि उसने संसार छोड़ दिया था। क्यों ? एक दूसरा कल्पना का संसार प्राप्त करने के लिए, इस आशा पर कि वह संसार सुख से पूर्ण होगा। जनरव से उसे अरुचि थी। कल्पना का मंडल उसके विचरने का क्षेत्र था। संसार में उसे शान्ति न थी, इसलिए शान्ति को पाने के लिए उसे निर्जन की शरण लेनी पड़ी थी। संयम और नियम—इन पर उसे विश्वास था, इच्छाएँ उसके वशीभूत थीं।

योगी कुमारगिरि में शक्तियाँ भी थीं; पर वह उन शक्तियों का संचय करने में ही विश्वास करता था, प्रयोग करने में नहीं। एकान्त में उसका मन स्थिर रहता था, और एकाग्रचित्त होकर वह अभ्यास भी कर सकता था। उसने अपना शरीर तपा दिया था; पर उसको कष्ट न हुआ था। शरीर तपता था; पर उसकी जलन को एक

अलौकिक सुख की कल्पना शीतल कर देती थी। उसने वासनाओं को दबा दिया था, क्योंकि वासनाओं के कारण ही मनुष्य पाप करता है।

योगी कुमारगिरि सुखी था। विचार-सागर में वह डूबा रहता था। उसके सामने इच्छाओं का संसार न था और इच्छाओं के न पूर्ण होने से जनित परिताप न था। उसके जीवन की अकर्मण्यता पर ज्ञान और विचार का आवरण था। सुख कल्पना है, तृप्ति है। प्यास न होने के कारण तृप्ति का कोई वास्तविक महत्त्व न भी हो; पर ऐसी स्थिति में हृदय पर कोई भार नहीं रहता; कसक की, टीस की अनभिज्ञता प्रधान होती है। दुख से शून्य तथा हलके से हृदय को कल्पना के संसार में ले जाना सरल होता है। योगी कुमारगिरि विस्मृति के अंक में निवास करता था। आत्म-विस्मृति और कल्पना की सजीवता का भ्रम—इन दोनों में अजब मस्ती है। एक काल्पनिक चाह थी, एक काल्पनिक तृप्ति भी वहीं पर थी; दो कल्पनाओं से उत्पन्न सुख में वह मग्न रहता था।

और इसीलिए कुमारगिरि योगी था!

मधुपाल योगी कुमारगिरि का शिष्य था। मधुपाल कुमारगिरि की शक्तियों से परिचित था, और साथ-साथ चकित भी।

मधुपाल ने पूछा, 'देव, संयम का लक्ष्य क्या है?'

कुमारगिरि सम्हलकर बैठ गये, 'शान्ति! और शान्ति-जनित आनन्द!'

मधुपाल ने फिर पूछा, 'देव! संसार की वास्तविक गति क्या है?'

'वाह्य दृष्टि से परिवर्तन और आन्तरिक दृष्टि से शून्य। शून्य और परिवर्तन—इनके विचित्र संयोग पर तुम्हें शायद आश्चर्य होगा। ये दोनों एक किस प्रकार से हो सकते हैं, यह प्रश्न स्वाभाविक होगा। पर, वही स्थिति, जहाँ मनुष्य परिवर्तन और शून्य के भेदभाव से ऊपर उठ जाता है, ज्ञान की अन्तिम सीढ़ी है। संसार क्या है? शून्य है। और परिवर्तन उस शून्य की चाल है। परिवर्तन कल्पना है, और कल्पना स्वयं ही शून्य है। समझे!'

मधुपाल इस उत्तर से सन्तुष्ट न हो सका। 'देव, आपने कहा कि संसार शून्य है। यह मेरी समझ में नहीं आया। जो वस्तु दृष्टि के सामने है वह शून्य किस प्रकार हो सकती है?'

कुमारगिरि हँस पड़े, 'यहीं तो योग की आवश्यकता होती है। योगी जिस समय आँखें बन्द करता है उस समय एक अखंड शून्य रहता है, और कुछ नहीं। उसी शून्य में सुख-दुख, अनुराग-विराग, दिन-रात, ब्रह्म और माया—सब-के-सब लोप हो जाते हैं। उसी प्रकाशवान् शून्य में वह विचरता है और वहीं वह निमग्न हो जाता है। जहाँ से उसकी उत्पत्ति हुई है, वहीं वह इस काल्पनिक जीवन में कुछ क्षणों के लिए मिल जाता है। और उसी ब्रह्म से युक्त शून्य में सदा के लिए मिल जाने को मुक्ति कहते हैं। इस तरह योगी इसी शरीर के साथ मुक्ति का अनुभव करता है।'

अपने गुरु के प्रति मधुपाल की श्रद्धा उमड़ पड़ी। गद्गद होकर उसने गुरु के चरणों में अपना मस्तक नमा दिया। उसे अपने गुरु के अखंड ज्ञान पर गर्व था, और गुरु के अच्युत होने पर विश्वास। इसी समय रत्नाम्बर ने विशालदेव के साथ कुमारगिरि की कुटी में प्रवेश किया।

रत्नाम्बर को सन्मुख देखकर कुमारगिरि आसन से उठ खड़े हुए। दोनों एक-

दूसरे से गले मिले। इसके बाद रत्नाम्बर को आसन देकर कुमारगिरि ने पूछा, 'आचार्य ने किसलिए यह कष्ट उठाया ?'

निश्चल भाव से रत्नाम्बर ने उत्तर दिया, 'अखंड तेज से विभूषित योगी कुमारगिरि से अपने शिष्य को दीक्षित कराने के लिए ही मैं उपस्थित हुआ हूँ।'

कुमारगिरि ने कहा, 'आचार्य, इस तुच्छ सेवक को एक बहुत बड़ा स्थान दे रहे हैं और मैं उसके लिए सर्वथा अयोग्य हूँ।'

'नहीं, योगी कुमारगिरि, यह तुम्हारी उदारता है। तुम वास्तव में श्रेष्ठ हो। तुम संसार से बहुत ऊँचे उठ चुके हो और मैं अभी तक संसार में ही हूँ। जहाँ केवल तर्क किसी समस्या को सुलझाने में पर्याप्त नहीं होता, वहाँ अनुभव की तथा कल्पना की आवश्यकता होती है। तुममें ज्ञान है और कल्पना है, मुझमें केवल अनुभव है। इसीलिए तुम्हारे पास आया हूँ। तुम्हारे साथ रहकर यह मनुष्य जीवन की जटिल समस्याओं को सफलतापूर्वक हल करने में समर्थ हो सकेगा। इसीलिए मैं विशालदेव को तुम्हारा शिष्य बनाना चाहता हूँ। योगी कुमारगिरि, तुम मेरा अनुरोध न टालोगे और मेरी यह प्रार्थना स्वीकार करोगे।'

कुमारगिरि ने विशालदेव की ओर देखा, 'वत्स, जीवन की किस समस्या को सुलझाने के लिए तुम्हें मेरे पास आना पड़ रहा है ?'

विशालदेव ने कुमारगिरि को अभिवादन करके शान्त भाव से उत्तर दिया, 'देव! मैं जानना चाहता हूँ कि पाप क्या है ?'

कुमारगिरि हँस पड़े। उनकी हँसी में माधुर्य था। उन्होंने कहा, 'तुम जानना चाहते हो कि पाप क्या है! पर पाप क्या है, यह अधिकतर अनुभव से ही जाना जा सकता है और मेरे साथ रहकर तुम्हें पाप का अनुभव न हो सकेगा। मेरा क्षेत्र है संयम और नियम, और संयम और नियम से पाप दूर रहता है। फिर भी आचार्य का अनुरोध है कि मैं तुम्हें अपना शिष्य बनाऊँ। शिष्य बनाने के पहले तुम और आचार्य पर यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि मैं तुम्हें पुण्य का रूप दिखला दूँगा, और पुण्य को जानकर तुम पाप का पता लगा सकोगे।'

कुमारगिरि की बातें सुनकर रत्नाम्बर मन-ही-मन मुस्कराये। उन्होंने कहा, 'योगी कुमारगिरि! जो तुमने कहा, वह उचित कहा। किसी भी समझदार व्यक्ति को इसमें आपत्ति न होगी।'

'तो फिर आचार्य का अनुरोध स्वीकार है।'

रत्नाम्बर उठ खड़े हुए। 'अच्छा, योगी कुमारगिरि, तो अब मैं तुम्हारी आज्ञा चाहता हूँ। तुम्हें शायद आश्चर्य होगा, पर मैं स्वयं ही नहीं जानता हूँ कि पाप क्या है। वर्षों के अध्ययन और अनुभव के बाद भी पूर्ण ज्ञान की थाह नहीं ले सका हूँ। अपने शिष्यों को मैंने योग्य व्यक्तियों के हाथ सौंप दिया है, अब मैं कुछ थोड़ी-सी तपस्या भी करूँगा। देखूँगा कि जिस बात को मैं अध्ययन तथा अनुभव से नहीं जान सका, क्या मैं उसे आराधना और साधना से जान सकता हूँ।'

इतना कहकर रत्नाम्बर वहाँ से चले गये।

□ □

एक वर्ष वाद !

महाप्रभु रत्नाम्वर ने कहा, 'वत्स श्वेतांक ! तुम्हारा विवाह हो गया और तुम गृहस्थ हो चुके। अव मुझे वतला सकते हो कि बीजगुप्त और कुमारगिरि, इन दोनों में कौन व्यक्ति पापी है ?'

श्वेतांक ने रत्नाम्वर के सामने मस्तक नमा दिया, 'महाप्रभु ! बीजगुप्त देवता हैं। संसार में वे त्याग की प्रतिमूर्ति हैं। उनका हृदय विशाल है। और कुमारगिरि पशु है। वह अपने लिए जीवित है, संसार में उसका जीवन व्यर्थ है। वह जीवन के नियमों के प्रतिकूल चल रहा है। अपने सुख के लिए उसने संसार की वाधाओं से मुख मोड़ लिया है। कुमारगिरि पापी है।'

'और वत्स विशालदेव ! तुमने योग की दीक्षा ले ली, और तुम योगी हो गये। अव तुम मुझे वतलाओ कि कुमारगिरि और बीजगुप्त, इन दो में कौन व्यक्ति पापी है ?'

विशालदेव ने रत्नाम्वर के सामने मस्तक नमा दिया, 'महाप्रभु ! योगी कुमार-गिरि अजित हैं। उन्होंने ममत्व को वशीभूत कर लिया है। वे संसार से वहुत ऊपर उठ चुके हैं। उनकी साधना, उनका ज्ञान और उनकी शक्ति पूर्ण है। और बीजगुप्त वासना का दास है। उसका जीवन संसार के घृणित भोग-विलास में है। वह पापी है, पापमय संसार का वह एक मुख्य भाग है।'

रत्नाम्बर कह उठे, 'तुम दोनों विभिन्न परिस्थितियों में रहे और तुम दोनों की पाप की धारणाएँ भिन्न-भिन्न हो गयी हैं। तुम लोग जा रहे हो। तुम्हारी विद्या पूर्ण हो चुकी। अव अपना अन्तिम पाठ मुझसे सुनते जाओ।

'संसार में पाप कुछ भी नहीं है, वह केवल मनुष्य के दृष्टिकोण की विषमता का दूसरा नाम है। प्रत्येक व्यक्ति एक विशेष प्रकार की मन:प्रवृत्ति लेकर उत्पन्न होता है। प्रत्येक व्यक्ति इस संसार के रंगमंच पर एक अभिनय करने आता है। अपनी मन:प्रवृत्ति से प्रेरित होकर अपने पाठ को वह दुहराता है। यही मनुष्य का जीवन है। जो कुछ मनुष्य करता है, वह उसके स्वभाव के अनुकूल होता है और स्वभाव प्राकृतिक है। मनुष्य अपना स्वामी नहीं है, वह परिस्थितियों का दास है, विवश है। वह कर्त्ता नहीं है, वह केवल साधन है। फिर पुण्य और पाप कैसा ?

'मनुष्य में ममत्व प्रधान है। प्रत्येक मनुष्य सुख चाहता है। केवल व्यक्तियों के सुख के केन्द्र भिन्न होते हैं। कुछ सुख को धन में देखते हैं, कुछ सुख को मदिरा में देखते हैं, कुछ सुख को व्यभिचार में देखते हैं, कुछ त्याग में देखते हैं; पर सुख प्रत्येक व्यक्ति चाहता है; कोई भी व्यक्ति संसार में अपनी इच्छानुसार वह काम न करेगा, जिसमें दुख मिले। यही मनुष्य की मन:प्रवृत्ति है और उसके दृष्टिकोण की विषमता है।

'संसार में इसीलिए पाप की एक परिभाषा नहीं हो सकी और न हो सकती है। हम न पाप करते हैं और न पुण्य करते हैं, हम केवल वह करते हैं जो हमें करना पड़ता है।'

रत्नाम्बर उठ खड़े हुए : 'यह मेरा मत है। तुम लोग इससे सहमत हो या न हो, मैं तुम्हें वाध्य नहीं करता और न कर सकता हूँ। जाओ और सुखी रहो। यह मेरा तुम्हें आशीर्वाद है।'

—'चित्रलेखा' से

रेखा

'कार्य और कारण, कारण और कार्य ! दुनिया की स्थापना इसी पर है।' प्रभाशंकर कहते जा रहे थे, 'और इसलिए जो कुछ हुआ है वह स्वाभाविक था, जो कुछ हो रहा है वह स्वाभाविक है, और भविष्य में जो कुछ होगा वह भी स्वाभाविक होगा। डॉक्टर मिश्र, हम सब उस कार्य-कारण की शृंखला की कड़ियों के रूप में हैं, हमारे संकल्प-विकल्प और हमारी गतिविधि भी इसी कार्य-कारण के नियम से शासित और अनुप्राणित है। ऐसी हालत में जहाँ तक मेरा मत है, मैं समझता हूँ कि हमारे संकल्प-विकल्प का रूप बदलता रहता है, हमारी गतिविधि एक तरह से निर्धारित है।'

योगेन्द्रनाथ मिश्र इधर पिछले कुछ महीनों से अपने ही में खोये-खोये-से रहते थे। उनके अन्दर एक हलचल-सी मची हुई थी। उन्हें लग रहा था कि वह कुछ ऐसी तरंगों में बहे जा रहे हैं जिन तरंगों का रूप वह जानते हुए भी नहीं समझ पा रहे हैं। उन तरंगों के वेग का स्रोत कहाँ है, उनकी समझ में नहीं आ रहा था। ऐसा नहीं कि उन तरंगों में बहना उन्हें बुरा लगता हो, लेकिन उन तरंगों में कुछ ऐसा सम्मोहन था जिससे उनकी चेतना धुँधली पड़ती जा रही थी, उन तरंगों से निकलने की क्षमता जैसे उनमें न रह गई हो। प्रभाशंकर ने अपनी बात कहकर योगेन्द्रनाथ मिश्र की ओर देखा, लेकिन उन्हें ऐसा लगा कि योगेन्द्रनाथ अपने में खोया हुआ कुछ सोच रहा है, जैसे उनकी बात उसने सुनी ही नहीं।

'क्यों, क्या सोच रहे हो, डॉक्टर ?' प्रभाशंकर ने पूछा।

'क्या सोच रहा हूँ प्रोफेसर ?' योगेन्द्रनाथ मिश्र ने चौंकते हुए कहा। फिर एक ठण्डी साँस भरकर वह बोला, 'यही तो समझ में नहीं आ रहा है कि मैं क्या सोच रहा हूँ। अगर यही मैं स्पष्ट रूप से जान पाता कि क्या सोच रहा हूँ, तो उसका निदान भी मुझे मिल जाता। बुद्धि से बहुत दूर, अनजानी भावनाओं के क्षेत्र में जा पड़ा हूँ। ज्ञान और बुद्धि—इन्हीं में तो प्रकाश है। जीवन का सारा उलझाव इस भावना में ही है।'

'कुछ लोगों का मत है कि मनुष्य का सारा प्रकाश उसकी भावना में है, क्योंकि भावना ही प्राणतत्त्व है।' प्रभाशंकर मुसकराये।

'आप शायद ठीक कहते हैं, प्रोफेसर ! मुझे भी कभी-कभी लगने लगता है

कि तर्क और ज्ञान इस भावना के प्रकाश को धुंधला कर देते हैं। तर्क और ज्ञान—इनकी उपस्थिति ही शंका और अज्ञान के असीमित अन्धकार का बोध देती है।'

इस समय तक रेखा ने चाय मेज़ पर लगा दी थी और वह बड़े कौतूहल के साथ दो दार्शनिकों की इस बातचीत को सुन रही थी। अब उसने मुसकराते हुए कहा, 'अपनी सीमा को स्वीकार करके हम सब लोगों को भावना के सीमित और सुस्पष्ट क्षेत्र में रहना चाहिए, शायद आप यह कहना चाहते हैं, डॉक्टर! तो फिर मैं समझती हूँ कि जीवन की सर्वप्रथम भावना है भूख और प्यास। अब आप लोग नाश्ता कीजिए और चाय पीजिए।'

प्रभाशंकर ने उठते हुए कहा, 'चलो डॉक्टर, चाय पी ली जाय। रेखा ठीक कहती है, जीवन की प्रमुख भावना है भूख और प्यास। यह समस्त जीवन शृंखला-बद्ध बुभुक्षा से अनुप्राणित है। एक भूख के शान्त होने पर दूसरी भूख—इस भूख का कहीं कोई अन्त नहीं।'

सब लोग डाइनिंग मेज़ पर बैठ गये और रेखा चाय बनाने लगी। योगेन्द्रनाथ जैसे आज बात करने के मूड में आ गया था; वह कह रहा था, 'सोच रहा हूँ प्रोफे-सर, क्या इस भूख के मामले में कहीं संयम का भी कोई स्थान है? कभी-कभी मुझे लगने लगता है कि भूख एक विकास है, मानव की समस्त विकृतियाँ इसी भूख के कारण हैं। संयम द्वारा हम इन विकृतियों को नष्ट भले ही न कर सकें, कम तो कर ही सकते हैं।'

रेखा ने चाय का प्याला योगेन्द्रनाथ और प्रभाशंकर की ओर बढ़ाते हुए कहा, 'हम कर सकते हैं, डॉक्टर, इसी पर मुझे विश्वास नहीं। मुझे तो ऐसा लगता है कि हम कुछ नहीं कर सकते, सब-कुछ अपने ही आप हो जाता है। जिस भावना की बात अभी चल रही है, क्या उस पर हमारा कोई अधिकार है? भूख लगे या न लगे, क्या इस पर आपका कोई वश है?'

सिर झुकाये हुए योगेन्द्रनाथ ने उत्तर दिया, 'नहीं, इस भूख पर किसी का कोई वश नहीं, भूख शरीर का गुण है, वह तो लगेगी ही।'

प्रभाशंकर ने योगेन्द्रनाथ की बात काटी, 'भूख शरीर का ही गुण नहीं है, वह जीवन का गुण है। जिसे हम इच्छा अथवा अभिलाषा कहते हैं वह भूख का ही तो दूसरा रूप है। यह सारा कौतूहल, उत्सुकता, इच्छा, अभिलाषा, प्रेरणा ये सब इसी भूख के रूपान्तर हैं। तो इस भूख से त्राण नहीं मिलने का। हाँ, मैं जीवन में संयम की महत्ता को स्वीकार करता हूँ। भूख स्वयं में विकृति नहीं है, उसकी उग्रता और भूख को वहन करनेवाले व्यक्ति का असंयम ये दोनों मिलकर विकृतियों को जन्म देते हैं। इसलिए जीवन में संयम की नितान्त आवश्यकता है कि हम विकृतियों से बचे रह सकें।'

रेखा ने बड़े भोलेपन के साथ प्रश्न किया, 'प्रोफेसर, विकृति को आप सामा-जिक तत्त्व मानते हैं अथवा वैयक्तिक तत्त्व?'

प्रभाशंकर ने योगेन्द्रनाथ की ओर देखा, 'महत्त्वपूर्ण प्रश्न है यह। क्यों डॉक्टर, तुम्हारा क्या ख्याल है?'

कुछ सोचकर योगेन्द्रनाथ ने कहा, 'साधारण ढंग से हम विकृति को सामाजिक दृष्टिकोण का ही एक रूप कह सकते हैं, लेकिन अन्ततोगत्वा इस विकृति का वैयक्तिक

पक्ष ही मुझे स्वीकार करना पड़ता है। समाज से सामंजस्य स्थापित रखना व्यक्ति का कर्त्तव्य है, और असामाजिकता को हम मोटे तौर से विकृति मानते हैं। लेकिन यह असामाजिकता वैयक्तिक तत्त्व है, इसलिए विकृति भी वैयक्तिक तत्त्व है, इससे मैं इन्कार नहीं कर सकता।'

रेखा उठ खड़ी हुई, 'मैं विकृति को वैयक्तिक तत्त्व नहीं मान पाती डॉक्टर, और मान भी नहीं पाऊँगी। जो कुछ हो चुका है, वह स्वाभाविक है, जो कुछ हो रहा है, वह स्वाभाविक है, और जो कुछ होना है या होगा वह भी स्वाभाविक है। क्यों प्रोफेसर, आपने कुछ देर पहले यही बात कही थी न! ऐसी हालत में जो कुछ स्वाभाविक है उसमें विकास कैसा? सामाजिक मान्यताएँ और आस्थाएँ बदलती रहती हैं, इसलिए जिसे हम विकृति कहते हैं उसका रूप और उसकी परिभाषा इस नित्य बदलते हुए समाज में बदलते रहेंगे।'

—'रेखा' से

कुत्ते की दुम

उस कलुए की दुम, देख रहे हो उसको मेरे भाई,
बाँकी-सी गति से भरी, और वह टेढ़ी-सी खम-खाई।
उस दुम में भरी हुई है जग की अल्हड़-सी तरुणाई,
विधि ने सँवारकर रख दी उसमें अपनी सब सुघराई।

कलुआ कुत्ते की टेढ़ी दुम, टेढ़ा है सकल ज़माना,
टेढ़ा है अपना साथ और टेढ़ा है साथ निभाना,
टेढ़ा-सा ही है काल-नियति का उलझा ताना-बाना,
टेढ़ी है अपनी राह कि उस पर टेढ़े चलते जाना।

—'कुत्ते की दुम' का अंश

दो बाँके

शायद ही कोई ऐसा अभागा हो जिसने लखनऊ का नाम न सुना हो; और युक्तप्रान्त में ही नहीं, बल्कि सारे हिन्दुस्तान में, और मैं तो यहाँ तक कहने को तैयार हूँ कि सारी दुनिया में लखनऊ की शोहरत है। लखनऊ के सफ़ेदा आम, लखनऊ के खरबूजे, लखनऊ की रेवड़ियाँ : ये सब ऐसी चीजें हैं जिन्हें लखनऊ से लौटते समय लोग सौगात के तौर पर साथ ले जाया करते हैं, लेकिन कुछ ऐसी भी चीजें हैं जो साथ नहीं ले जाई जा सकतीं, और उनमें लखनऊ की ज़िन्दादिली और लखनऊ की नफ़ासत विशेष रूप से आती है।

ये तो वे चीजें हैं, जिन्हें देशी और परदेशी सभी जान सकते हैं, पर कुछ ऐसी भी चीजें हैं जिन्हें कुछ लखनऊ वाले तक नहीं जानते, और अगर परदेशियों को इनका पता लग जाये, तो समझिये कि उन परदेशियों के भाग खुल गये। इन्हीं विशेष चीज़ों में आते हैं लखनऊ के 'बाँके'।

'बाँके' शब्द हिन्दी का है या उर्दू का, यह विवादग्रस्त विषय हो सकता है, और हिन्दी वालों का कहना है—इन हिन्दी वालों में मैं भी हूँ—कि यह शब्द संस्कृत के 'बंकिम' शब्द से निकला है। पर यह मानना पड़ेगा कि जहाँ 'बंकिम' शब्द में कुछ गम्भीरता है, कभी-कभी कुछ तीखापन झलकने लगता है, वहाँ 'बाँके' शब्द में एक अजीब बाँकपन है। अगर जवान बाँका-तिरछा न हुआ, तो आप निश्चित समझ लें कि उसकी जवानी की कोई सार्थकता नहीं। अगर चितवन बाँकी नहीं, तो आँख का फोड़ लेना अच्छा है : बाँकी अदा और बाँकी झाँकी के बिना ज़िन्दगी सूनी हो जाये। मेरे ख़्याल से अगर दुनिया से बाँका शब्द उठ जाये, तो कुछ दिलचले लोग ख़ुदकुशी करने पर आमादा हो जायेंगे। और इसीलिए मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि लखनऊ बाँका शहर है, और इस बाँके शहर में कुछ बाँके रहत हैं जिनमें गजब का बाँकपन है। यहाँ पर आप लोग शायद झल्लाकर यह पूछेंगे, 'म्याँ, यह 'बाँके' हैं क्या बला? कहते क्यों नहीं?' और मैं उत्तर दूँगा कि आप में सब्र नहीं : अगर इन बाँकों की एक बाँकी भूमिका नहीं हुई, तो फिर कहानी किस तरह बाँकी हो सकती है।

हाँ, तो लखनऊ शहर में रईस हैं, तवायफें हैं और इन दोनों के साथ शोहदे भी हैं। बक़ौल लखनऊ वालों के ये शोहदे ऐसे-वैसे नहीं हैं। ये लखनऊ की नाक हैं।

लखनऊ की सारी बहादुरी के ये ठेकेदार हैं और ये जान ले लेने और जान दे देने पर आमादा रहते हैं। अगर लखनऊ से ये शोहदे हटा दिये जायें, तो लोगों का यह कहना 'अजी, लखनऊ तो ज़नानों का शहर है,' सोलह आने सच्चा उतर जाये।

जनाब, इन्हीं शोहदों के सरगनों को लखनऊ वाले 'बाँके' कहते हैं। शाम के वक्त तहमद पहने हुए और कसरती बदन पर जालीदार बनियान पहनकर उसके ऊपर बूटेदार चिकन का कुरता डाटे हुए जब ये निकलते हैं, तब लोगबाग बड़ी हसरत की निगाहों से इन्हें देखते हैं। उस वक्त इनके पट्टेदार बालों में करीब आध पाव चमेली का तेल पड़ा रहता है, कान में इत्र की अनगिनत फुरहरियाँ खुंसी रहती हैं और एक बेले का गजरा गले में तथा एक हाथ की कलाई पर रहता है। फिर ये अकेले भी नहीं निकलते, इनके साथ शागिर्द शोहदों का जलूस रहता है, एक-से-एक बोलियाँ बोलते हुए, फबतियाँ कसते हुए और शेखियाँ हाँकते हुए। उन्हें देखने के लिए एक हुजूम उमड़ पड़ता है।

तो उस दिन मुझे अमीनाबाद से नख्खास जाना था। पास में पैसे कम थे; इसलिए जब एक नवाब साहब ने आवाज़ दी, 'नख्खास' तो मैं उचककर उनके इक्के पर बैठ गया। यहाँ यह बतला देना बेजा न होगा कि लखनऊ के इक्के वालों में तीन-चौथाई शाही खानदान के हैं, और यही उनकी बदकिस्मती है कि उनका वसीक़ा बन्द या कम कर दिया गया और उन्हें इक्का हाँकना पड़ रहा है।

इक्का नख्खास की तरफ चला और मैंने मियाँ इक्केवाले से कहा, 'कहिए नवाब साहब! खाने-पीने-भर को तो पैदा कर लेते हो?'

इस सवाल का पूछा जाना था कि नवाब साहब के उद्‌गारों के बाँध का टूट पड़ना था। बड़े करुण स्वर में बोले, 'क्या बतलाऊँ हुज़ूर, अपनी क्या हालत है, कह नहीं सकता। खुदा जो कुछ दिखलायेगा, देखूँगा। एक दिन थे जब हम लोगों के बुजुर्ग हुकूमत करते थे। ऐशो-आराम की ज़िन्दगी बसर करते थे। लेकिन हम उन्हीं की औलाद को भूखों मरने की नौबत आ गयी। और हुज़ूर, अब पेशे में कुछ रह नहीं गया। पहले तो ताँगे चले, जी को समझाया-बुझाया, म्याँ, अपनी-अपनी किस्मत। मैं भी ताँगा ले लूँगा, यह तो वक्त की बात है, मुझे भी फ़ायदा होगा; लेकिन क्या बतलाऊँ हुज़ूर, हालत दिनोंदिन बिगड़ती ही गयी। अब देखिये, मोटरों पर मोटरें चल रही हैं। भला बतलाइये हुज़ूर, जो सुख इक्के की सवारी में है, वह भला ताँगे या मोटर में मिलने का? ताँगे में पलथी मारकर आराम से बैठ नहीं सकते। जाते उत्तर की तरफ हैं, मुँह दक्खिन की तरफ रहता है। अजी साहब, हिन्दुओं में मुरदा उलटे सिर ले जाया जाता है, लेकिन ताँगे में लोग ज़िन्दा ही उल्टे सिर चलते हैं। और ज़रा ग़ौर फरमाइये। ये मोटरें शैतान की तरह चलती हैं, वह बला की धूल उड़ाती हैं कि इन्सान अन्धा हो जाये। मैं तो कहता हूँ कि बिना जानवर के आप चलने वाली सवारी से दूर ही रहना चाहिए, उसमें शैतान का फेर है।'

इक्के वाले नवाब और न जाने क्या-क्या कहते, अगर वे 'या अली' के नारे से चौंक न उठते।

सामने क्या देखते हैं कि एक आलम उमड़ा पड़ रहा है। इक्का रकाबगंज के पुल के पास पहुँचकर रुक गया।

एक अजीब समाँ था। रकाबगंज के पुल के दोनों तरफ करीब पन्द्रह हज़ार

की भीड़ थी; लेकिन पुल पर एक आदमी नहीं। पुल के एक किनारे करीब पचीस शोहदे लाठी लिये हुए खड़े थे और दूसरे किनारे भी उतने ही। एक खास बात और थी कि पुल के एक सिरे पर सड़क के बीचों-बीच एक चारपाई रखी थी, और दूसरे सिरे पर भी सड़क के बीचों-बीच दूसरी। बीच-बीच में रुक-रुककर दोनों ओर से 'या अली' के नारे लगते थे।

मैंने इक्के वाले से पूछा, 'क्यों म्याँ, क्या मामला है ?'

म्याँ इक्के वाले ने एक तमाशाई से पूछकर बतलाया, 'हुजूर, आज दो बाँकों में लड़ाई होने वाली है, उसी लड़ाई को देखने के लिए यह भीड़ इकट्ठी है।'

मैंने फिर पूछा, 'यह क्यों ?'

म्याँ इक्के वाले ने जवाब दिया, 'हुजूर, पुल के इस पार के शोहदों का सरगना एक बाँका है और उस पार के शोहदों का सरगना दूसरा बाँका। कल इस पार के एक शोहदे से पुल के उस पार के दूसरे शोहदे का कुछ झगड़ा हो गया और उस झगड़े में कुछ मार-पीट हो गयी। इस फिसाद पर दोनों बाँकों में कुछ कहा-सुनी हुई और उस कहा-सुनी में मैदान बद दिया गया।'

चुप होकर मैं उधर देखने लगा। एकाएक मैंने पूछा, 'लेकिन ये चारपाइयाँ क्यों आयी हैं ?'

'अरे हुजूर! इन बाँकों की लड़ाई कोई ऐसी-वैसी थोड़े ही होगी; इसमें खून बहेगा और लड़ाई तब तक खत्म न होगी, जब तक एक बाँका खत्म न हो जाये। आज तो एक-आध लाश गिरेगी। ये चारपाइयाँ उन बाँकों की लाश उठाने आयी हैं। दोनों बाँके अपने बीवी-बच्चों से रुख़सत लेकर और कर्बला के लिए तैयार होकर आवेंगे।'

इसी समय दोनों ओर से 'या अली' की एक बहुत बुलन्द आवाज़ उठी। मैंने देखा कि पुल के दोनों तरफ़ हाथ में लाठी लिये हुए दोनों बाँके आ गये। तमाशाइयों में एक सकता-सा छा गया; सब लोग चुप हो गये।

पुल के इस पार वाले बाँके ने कड़ककर दूसरे पार वाले बाँके से कहा, 'उस्ताद!'

और दूसरे पार वाले बाँके ने कड़ककर उत्तर दिया, 'उस्ताद!'

पुल के इस पार वाले बाँके ने कहा, 'उस्ताद, आज खून हो जायेगा, खून!'

पुल के उस पार वाले बाँके ने कहा, 'उस्ताद, आज लाशें गिर जायेंगी, लाशें!'

पुल के इस पार वाले बाँके ने कहा, 'उस्ताद, आज कहर हो जायेगा, कहर!'

पुल के उस पार वाले बाँके ने कहा, 'उस्ताद, आज क़यामत बरपा हो जायेगी, कयामत!'

चारों ओर एक गहरा सन्नाटा फैला था। लोगों के दिल धड़क रहे थे, भीड़ बढ़ती ही जा रही थी।

पुल के इस पार वाले बाँके ने लाठी का एक हाथ घुमाकर एक कदम बढ़ते हुए कहा, 'तो फिर उस्ताद होशियार।'

पुल के इस पार वाले बाँके के शागिर्दों ने गगनभेदी स्वर में नारा लगाया,

'या अली !'

पुल के उस पार वाले बाँके ने भी लाठी का एक हाथ घुमाकर एक क़दम बढ़ते हुए कहा, 'तो फिर उस्ताद सम्हलना।'

पुल के उस पार वाले बाँके के शागिर्दों ने गगनभेदी स्वर में नारा लगाया, 'या अली !'

दोनों तरफ से दोनों बाँके, क़दम-ब-कदम लाठी के हाथ दिखलाते हुए, तथा एक-दूसरे को ललकारते आगे बढ़ रहे थे, दोनों तरफ के बाँकों के शागिर्द हर कदम पर 'या अली' के नारे लगा रहे थे और दोनों तरफ के तमाशाइयों के हृदय उत्सुकता, कौतूहल और बाँकों की वीरता के प्रदर्शन के कारण धड़क रहे थे।

पुल के बीचोंबीच, एक-दूसरे से दो कदम की दूरी पर दोनों बाँके रुके। दोनों ने एक-दूसरे को थोड़ी देर गौर से देखा। फिर दोनों बाँकों की लाठियाँ उठीं, और दाहिने हाथ से घूमकर बायें हाथ में चली गई।

इस पार वाले बाँके ने कहा, 'फिर उस्ताद ?'

उस पार वाले बाँके ने कहा, 'फिर उस्ताद ?'

इस पार वाले बाँके ने अपना हाथ बढ़ाया, और उस पार वाले बाँके ने अपना हाथ बढ़ाया और दोनों के पंजे गुँथ गये।

दोनों बाँकों के शागिर्दों ने नारा लगाया, 'या अली !'

फिर क्या था ! दोनों बाँके ज़ोर लगा रहे हैं; पंजा टस से मस नहीं हो रहा हैं। दस मिनट तक तमाशबीन सकते की हालत में खड़े रहे।

इतने में इस पार वाले बाँके ने कहा, 'उस्ताद, ग़ज़ब का कस है।'

उस पार वाले बाँके ने कहा, 'उस्ताद, बला का ज़ोर है।'

इस पार वाले बाँके ने कहा, 'उस्ताद, अभी तक मैंने समझा था कि मेरे मुकाबिले का लखनऊ में दूसरा कोई नहीं है।'

उस पार वाले बाँके ने कहा, 'उस्ताद, आज कहीं जाकर मुझे अपनी जोड़ का जवाँमर्द मिला।'

इस पार वाले बाँके ने कहा, 'उस्ताद, तबीयत नहीं होती कि तुम्हारे जैसे बहादुर आदमी का खून करूँ।'

उस पार वाले बाँके ने कहा, 'उस्ताद, तबीयत नहीं होती कि तुम्हारे जैसे शेरदिल आदमी की लाश गिराऊँ।'

थोड़ी देर के लिए दोनों मौन हो गये; पंजा गुँथा हुआ, टस से मस नहीं हो रहा है।

इस पार वाले बाँके ने कहा, 'उस्ताद, झगड़ा किस बात का है ?'

उस पार वाले बाँके ने कहा, 'उस्ताद, यही सवाल मेरे सामने है।'

इस पार वाले बाँके ने कहा, 'उस्ताद, पुल के इस तरफ के हिस्से का मालिक मैं।'

उस पार वाले बाँके ने कहा, 'उस्ताद, पुल के इस तरफ़ के हिस्से का मालिक मैं।'

और दोनों ने एक साथ कहा, 'पुल की दूसरी तरफ से न हमें कोई मतलब है और न हमारे शागिर्दों को।'

दोनों के हाथ ढीले पड़े, दोनों ने एक-दूसरे को सलाम किया और फिर दोनों घूम पड़े। छाती फुलाये हुए, दोनों बाँके अपने शागिर्दों से आ मिले। बिजली की तरह यह खबर फैल गई कि दोनों बाँके बराबर की जोड़ छूटे और उनमें सुलह हो गई।

इक्के वाले को पैसे देकर मैं वहाँ से पैदल ही लौट पड़ा क्योंकि देर हो जाने के कारण नख्खास जाना बेकार था।

इस पार वाला बाँका अपने शागिर्दों से घिरा हुआ चल रहा था। शागिर्द कह रहे थे, 'उस्ताद, इस वक्त बड़ी समझदारी से काम लिया, वरना आज लाशें गिर जातीं।' 'उस्ताद, हम सब-के-सब अपनी-अपनी जान दे देते।' 'लेकिन उस्ताद, ग़ज़ब के कस हैं।'

इतने में किसी ने बाँके से कहा, 'मुला स्वांग खूब भर्‌यो।'

बाँके ने देखा कि एक लम्बा और तगड़ा देहाती, जिसके हाथ में एक भारी-सा लट्ठ है, सामने खड़ा मुस्करा रहा है।

उस वक्त बाँके खून का घूँट पीकर रह गए। उन्होंने सोचा एक बाँका दूसरे बाँके से ही लड़ सकता है, देहातियों से उलझना उसे शोभा नहीं देता।

और शागिर्द भी खून का घूँट पीकर रह गए। उन्होंने सोचा : भला उस्ताद की मौजूदगी में उन्हें हाथ उठाने का कोई हक भी है?

विक्टोरिया क्रॉस

हमारे जीवन में कभी-कभी ऐसी घटनाएँ घटित हो जाती हैं, जिनकी हम कल्पना नहीं कर सकते। पता नहीं कहाँ तक मनुष्य स्वयं अपने कर्मों का उत्तरदायी है। यदि कहीं एक नियम है, तो कहीं पर उस नियम का इतना स्पष्ट और पक्का अपवाद भी है कि संयम का अस्तित्व ही नहीं रह जाता। फिर जिसे हम विधि का विधान कहेंगे, उसका कोई नियम भी तो नहीं है; उसके जितने नियम हमारे सामने हैं, वे सब हमारी कल्पना द्वारा निर्मित हैं। हमारे जीवन में न जाने कितनी शक्तियाँ काम करती रहती हैं, उदाहरण के रूप में हमारी मनःप्रवृत्ति, हमारी परिस्थितियाँ, क्षणिक आवेग और भावनाएँ, समाज के नियम और बन्धन आदि। ये तो वे शक्तियाँ हैं जिन्हें हम स्पष्ट देखते हैं और अनुभव करते हैं; पर एक और भी शक्ति है, जिसका हम कभी विश्वास नहीं करते। वह शक्ति मानव-नियमों का उपहासात्मक प्रतिवाद है, और इस कारण मनुष्यों ने भी उसे उपहासात्मक नाम दिया है। हिन्दी में हम उसे 'घुप्पल' कहते हैं, अंग्रेजी में 'फ्लूक' कहते हैं। इस 'घुप्पल' पर आप मनन कीजिये, और आप उसका अध्ययन अरोचक न पाएँगे। 'घुप्पल' का अध्ययन करने के समय आप ऐसी-ऐसी घटनाओं से परिचित हो सकेंगे कि आपको न मनुष्य की शक्ति पर विश्वास रह जायेगा, और न भलाई तथा बुराई को ही आप महत्त्व दे सकेंगे। हाँ, आप जी खोलकर हँस सकेंगे; लेकिन शर्त यह है कि आप खुशमिजाज़ हों। यदि आप खुशमिजाज़ नहीं हैं, या यों कहिये कि आपने मुहर्रम में जन्म लिया है, तो इस घुप्पल की क्या मजाल जनाब, इस घुप्पल के निर्माता भी आपको नहीं हँसा सकेंगे। रही एक हलकी-सी मुस्कराहट, वह तो बड़े लोगों के लिए है और बड़े लोगों की बात मैं चलाने को तैयार नहीं।

हाँ, तो घुप्पल की बात चली थी न। यह बात क्यों चली, आप यही प्रश्न करेंगे। दुनिया में और भी अनेक महत्त्व के प्रश्न हैं। आदर्शवादी कहेगा, 'महाशयजी, आप किसी आदर्श को लीजिए, संसार उससे शिक्षा ग्रहण करे और जीवन में एक पवित्र साहस के साथ अग्रसर हो।' यथार्थवादी कहेगा, 'जनाब, इन बेकार की बातों में क्या रखा है? मनोविज्ञान का विश्लेषण कीजिये और जीवन की घटनाओं में छिपे हुए सत्य को निकालिये।' सोशलिस्ट कहेंगे, 'यह क्या बक रहे हो? किसानों

और मजदूरों की बातें करो, उनके दुखों को दूर करने का प्रयत्न करो, संसार से उत्पीड़न का नाम उठा दो।' और भी लोग न जाने क्या-क्या कहेंगे, पर मैं साफ़-साफ़ कह दूँ कि मैं तो इस समय धुप्पल के फेर में पड़ा हूँ कल शाम से और धुप्पल के अलावा मैं इस समय किसी अन्य विषय पर लिखने को तैयार नहीं।

कल शाम के समय मैं अपनी आदत से मजबूर होकर फिर एक महीने के बाद उसी पुराने रिस्टोराँ में चाय पीने जा पहुँचा। बात यों हुई कि मेरे दोस्त आ गये थे। उनसे बातचीत हुई, और उनके जाने के बाद मुझे एक लिफ़ाफ़ा मिला, जिसमें उन्होंने एक पत्र के साथ पाँच रुपये का एक नोट छोड़ दिया था। ये पाँच रुपये वे मुझसे शर्त हारे थे, और वह शर्त यह थी कि मैं कहानी नहीं लिख सकता और यदि कभी लिख भी लूँ, तो वह किसी अच्छे पत्र में न छप सकेगी। मैंने शर्त बदने को तो बद ली थी, पर बाद में मुझे दुख हुआ, क्योंकि यह शर्त बदना न था, बल्कि उन मित्र की जेब से जबरदस्ती रुपया निकाल लेना था। अगर कोई व्यक्ति आपकी प्रतिभा को स्वीकार नहीं करता, तो आपका यह कर्त्तव्य है कि उसे आप अपनी प्रतिभा से प्रभावित करके उससे अपनी प्रतिभा मनवाएँ, न कि आप उससे शर्त बदकर उसके रुपयों को छीन लें।

मुझे पाँच रुपये मिले; मुफ्त के ही थे, पर वे रुपये जिस तरह से आए थे, उसी तरह से ख़र्च भी होने चाहिए। घर से निकला यह सोचकर कि पाँच रुपये किसी संस्था को दान दे दूँ। रास्ते में रिस्टोराँ मिला। पैर रुक गए, या यों कहिए कि मेरी जेब के रुपयों ने मेरे पैर रोक दिए। सोचा, पच्चीस फी सैकड़ा कमीशन हरएक सौदे में जायज़ है। मराठों ने चौथ ली थी, हिन्दी के ग्राहक तक किताबों पर पच्चीस फी सैकड़ा कमीशन माँगते हैं, फिर मैंने ही कौनसा पाप किया है कि पाँच रुपये में सवा रुपया अपने ऊपर न खर्च करूँ? पैर मुड़े और मैं रिस्टोराँ के अन्दर।

मैंने एक बार रिस्टोराँ का मुआइना किया, अन्दाजा, किस मेज़ पर बैठूँ कि एकाएक मेरा हाथ सैल्यूट करने को उठ गया। यहाँ यह बतला दूँ कि मैं जब यूनिवर्सिटी में था, तो ट्रेनिंग कोर का मेम्बर था। एक वर्ष और भी सैनिक शिक्षा पाई थी और शायद एक-आध वर्ष और भी सैनिक शिक्षा लेता, यदि एक दिन आफ़िसर कमांडिंग ने कंधे पर राइफिल लदवाकर चौदह मील तक पैदल रूट मार्च न करवा दिया होता। हाँ, तो सामने एक कोने में मेज़ पड़ी थी और उस पर दो फौजी बैठे हुए चाय पी रहे थे। एक के सीने पर विक्टोरिया क्रॉस मेडल चमक रहा था। जिस व्यक्ति के विक्टोरिया क्रॉस लगा हो उसे क्या कलक्टर, क्या कमिश्नर और क्या गवर्नर सबको सलाम करना पड़ता है, फिर भला मैं उसे क्यों न सलाम करता? तय कर लिया कि उन दो फौजियों की मेज़ पर बैठकर चाय पिऊँ। विक्टोरिया क्रॉस पाए हुए लोगों से बातें करते हुए उनके साथ बैठकर चाय पीने का अवसर कोई रोज़ थोड़े ही मिला करता है, और साधारण आदमियों को तो कभी नहीं मिलता।

उसी मेज़ पर जाकर मैं डट गया। उन फौजियों को शायद मेरा उनकी मेज़ पर बैठना बुरा लगा, क्योंकि एक ने आँखें मिचमिचाईं और दूसरे ने अपनी मूँछ पर हाथ फेरा। एक ने खाँसा और दूसरे ने मेज पर हाथ पटका। एक ने मुँह बनाया और दूसरे ने नाक सिकोड़ी। मैंने अब अधिक देर चुप रहना उचित न समझा। जिन सज्जन के विक्टोरिया क्रॉस लगा था उनसे मैंने कहा, 'क्या यह विक्टोरिया क्रॉस

आपको इस ग्रेट वार में मिला ?'

उन्होंने सिर हिला दिया।

मैंने फिर पूछा, 'क्या मैं आपका नाम जान सकता हूँ ?'

'सुखराम।'

मैंने विक्टोरिया क्रॉस को ग़ौर से देखते हुए कहा, 'आप बड़े वीर आदमी हैं, हमारे देश को आप ऐसे वीरों पर अभिमान होना चाहिए।'

'हूँ' कहकर सुखराम ने आँखें नीची कर लीं।

मैं एक-एक शब्द के उत्तर को सुनकर घबड़ा गया था और उठकर चलने वाला ही था कि मेरी दृष्टि सुखराम के साथी पर पड़ गयी जो मुस्करा रहा था। मुझे घबड़ाया हुआ देखकर उसने कहा, 'बाबू साहब, आप आखिर चाहते क्या हैं ?'

लड़खड़ाते स्वर में मैंने कहा, 'कुछ नहीं; यही जानना चाहता था कि वीरता के किस काम में आपके साथी को विक्टोरिया क्रॉस मिला।'

सुखराम के साथी ने सुखराम की ओर देखा, इसके बाद उसने मेरी ओर। कुछ मुस्कराते हुए उसने कहा, 'बाबू साहब, बतला तो दूँ लेकिन दो शर्तें हैं, पहली यह कि सुखराम बतलाने दें और दूसरी यह कि आप उस कहानी को सुनकर शक न करें।'

सुखराम ने अपने साथी को घूरकर देखा। उसके साथी ने कहा, 'बाबू साहब ! सुखराम नहीं चाहते कि मैं कुछ बताऊँ, अब आप ही समझिए, मैं किस प्रकार बतला सकता हूँ।'

इस समय तक मेरा कौतूहल काफ़ी बढ़ चुका था। जिसने वीरता नहीं की थी, वह वीर का गुणगान करना चाहता था; पर वीर स्वयं ही नहीं चाहता था कि उसका गुणगान किया जाय। सुखराम क्यों मना कर रहा है, इसे जानने को मैं उत्सुक था। सुखराम के सम्बन्ध की कहानी विचित्र होगी, इतना अनुमान किए हुए था। मैंने सुखराम के साथी से कहा, 'जैसी आपकी इच्छा, यदि आपके साथी नहीं चाहते हैं तो न सही।' यह कहकर मैंने ब्वॉय को आवाज दी और तीन गिलास बियर के मँगवाए।

कुछ थोड़ा-सा इन्कार करने के बाद सुखराम और सुखराम के साथी ने बियर के गिलास खाली कर दिये। इधर-उधर की बातें हो रही थीं। उठते हुए मैंने सुखराम के साथी से कहा, "यह मेरा दुर्भाग्य ही है कि मैं आपकी उस कहानी को न जान सका। अच्छा, अब मैं चलूँगा।'

बियर के गिलासों ने सुखराम और सुखराम के साथी की गम्भीरता को दूर कर दिया था। थोड़ी देर में हम लोग पक्के दोस्त हो गए थे। सुखराम के साथी ने मेरा हाथ पकड़कर मुझे बिठला दिया, 'बाबू साहब, अब चाहे सुखराम न कहने दें लेकिन मैं तो आपको कहानी सुनाऊँगा ही।'

सुखराम भी मुस्कराया, 'अरे सुना भी दो, कौन मेरा बिगड़ जाएगा।'

सुखराम के साथी ने आरम्भ किया :

'बाबू साहब, हम लोग एक ही गाँव के रहने वाले हैं। जब लड़ाई छिड़ी, उस वक्त मैं फ़ौज में था। पहले तो समझा लड़ाई जल्दी ही खतम हो जाएगी, लेकिन वह काहे को खतम होने की, और जरमनी ने दाँत खट्टे कर दिए। हम लोग न होते तो

बाबू साहब, अंगरेज़ शर्तिया यह लड़ाई हार जाते। अरे, हमीं लोगों ने तो यह लड़ाई जीती।

'हाँ, तो जब लड़ाई शुरू हुई तब भरती भी शुरू हुई। और जैसे-जैसे लड़ाई ज़ोर पकड़ती गई, वैसे-वैसे भरती ज़ोर पकड़ती गई। एक दिन भरती करने वाले पहुँचे हमारे गाँव, और उनके सामने पड़ गये सुखराम। सुखराम अपनी जोरू से पिटके नदी में डूबने जा रहे थे। सो भरती करने वालों ने देखा सुखराम को और सुखराम ने देखा भरती करने वालों को। सुखराम की समझ में बात आ गई कि भरती वाले जान के ग्राहक हैं और भरती वालों की समझ में यह बात आ गई कि सुखराम ज़िन्दगी से आजिज़ हैं। बस फिर क्या था, सुखराम भरती हो गए।

'छह महीने तक क़वायद सिखाई गई और सातवें महीने लाद दिए गए सुखराम जहाज़ पर लड़ने के लिए। वहाँ ये हम लोगों को मिले। सुखराम मुझे देखकर बड़े खुश हुए। लगे कहने कि दुनिया घूम रहे हैं, फ़ौजी हैं, लौटकर मारे बूट के, मारे बूट के जोरू का कचूमर निकाल देंगे। ये बातें कर ही रहे थे कि हम लोगों का फायरिंग लाइन में जाने का हुक्म आया। फायरिंग लाइन में जाने का हुक्म पाते ही हमारी बटेलियन के लोगों के चेहरे पीले पड़ गये; लेकिन सुखराम के चेहरे पर शिकन नहीं। आप नहीं जानते बाबू साहब, कि ऐसा क्यों था ? बात यह थी कि सुखराम बेचारे क्या जानें कि फ़ायरिंग लाइन क्या बला है। इनके लिए तो जैसे हिन्दुस्तान से विलायत आना वैसे ही बन्दरगाह से फायरिंग लाइन पर जाना।

'हम लोग ट्रेंचों में पहुँचे और गोलाबारी शुरू हुई। अब सुखराम की हालत देखिए, इन्होंने रोना शुरू किया। ज़िन्दगी में तोप की आवाज़ सुनी न थी, यहाँ जो तोपें और बन्दूकें चलती देखीं तो बौखला गए। इधर गोली चली और उधर सुखराम भागे, पर मैंने सुखराम को पकड़ लिया। ट्रेंचों के बाहर निकलना और मरके गिर पड़ना बराबर ही है। लेकिन सुखराम बौखलाए हुए, उन्हें यह पता कहाँ ? हम लोगों ने लाख समझाया, पर इनकी समझ में बात न आई। समझते तब जब रोने और चिल्लाने से इन्हें फ़ुरसत मिलती। अन्त में हम लोगों ने इन्हें बाँध दिया।

'तीन दिन तक ये बँधे रहे। इन तीन दिनों तक हमें किन-किन मुसीबतों का सामना करना पड़ा, यह हमीं जानते हैं। चौथे दिन गोलाबारी ने भयानक रूप धारण किया। दुश्मन ने हमारी ट्रेंचों पर धावा बोला और हम लोग सब-के-सब उनको रोकने में लग गए। सुखराम को यह मौक़ा मिला, किसी तरह इन्होंने अपनी रस्सी तुड़ाई और रस्सी तुड़ाकर ट्रेंच के ऊपर चढ़ गए और बेतहाशा पीछे भागे।

'बाबू साहब, सुखराम की ऐसी बेशरम ज़िन्दगी भी हम लोगों ने नहीं देखी। चारों तरफ़ से गोलियों की बौछार हो रही है, तोप के गोले गिर रहे हैं, बम फूट रहे हैं और सुखराम इन सबों के बीच से सही सलामत भागे चले जा रहे हैं। एक गोली कान से बातें करती हुई निकल गई, तोप के गोले से जो जमीन फटके उछली, उसी के साथ इन्होंने भी दस फ़ुट की छलाँग मारी। इनका साफ़ा गोलियों से चलनी हो रहा था, जूते की एड़ियों में गोलियाँ चिपकी हुईं, वरदी गोलियों से छिदी हुई, और सुखराम के बदन पर एक खराश तक नहीं।

'सौ गज की दौड़ें तो आपने देखी होंगी, लेकिन मैं दावे के साथ कहता हूँ कि तेज़ से तेज़ दौड़ने वाला उस दिन इनका मुकाबला नहीं कर सकता था। बीच-बीच

में गढ़े थे और वहाँ इन्होंने लांगजम्प किया है, उसके आगे दुनिया का रिकार्ड मात है, क्योंकि एक दफे ये करीव इक्कीस फुट चौड़ा गढ़ा फाँद गये थे। और इन्होंने जो कलावाजियाँ खाईं, अगर आज ये उनको दुहरावें तो किसी भी सरकस में हज़ार-पाँच सौ रुपया महीना पैदा कर सकते हैं। हम लोग चिल्लाते ही रह गये, लेकिन सुखराम भला काहे को रुकने के।

'अव सुखराम डेंजर ज़ोन के वाहर निकले, लेकिन उनका दौड़ना वन्द नहीं हुआ। डेंजर ज़ोन के वाद कन्डैल साहव का खीमा गड़ा था। तारवर्की हो रही थी, और कन्डैल साहव दूरवीन लगाये वैठे थे। जव सुखराम खेमे के पास आये तो कन्डैल साहव ने चिल्लाकर कहा, 'कहाँ जाता है ?' सुखराम एक सेकन्ड के लिए रुके, हाँफते हुए इन्होंने कहा, 'साहव, गोली ! गोली !' और यह कहते हुए सुखराम वेहोश होकर गिर पड़े।

'यहाँ तक तो जो कुछ हुआ वह ठीक ही हुआ। सुखराम किस तरह से वच आये, कौन वतलाये, लेकिन मालूम होता है, भगवान अच्छा खासा मज़ाक करने पर तुले हुए थे। कन्डैल साहव ने दौड़कर सुखराम को खुद अस्पताल भिजवाया। इसके वाद उन्होंने अपने खरीते में लिखा : 'सुखराम ने वहुत वड़ी वहादुरी का काम किया। जिस वक्त ट्रेंचों में एम्यूनीशन खत्म हो गया और ट्रेंचों से यहाँ तक की कम्यूनिकेशन काम नहीं कर रही थी, यह आदमी अपनी जान पर खेलकर ट्रेंचों के वाहर निकलकर यहाँ एम्यूनिशन खत्म हो जाने की इत्तिला देने आया। ताज्जुव हो रहा है कि यह शख्स इतनी दूर ज़िन्दा कैसे चला आया। हज़ारों गोलियों के निशान इसके वदन पर के कपड़ों पर हैं; पर इसके एक भी गोली नहीं लगी। शायद इसके इस विल फोर्स ने, कि किसी-न-किसी तरह एम्यूनिशन खत्म होने की इत्तिला देनी ही चाहिए, इसे ज़िन्दा रखा। यहाँ पर हम परमेश्वर का हाथ देखते हैं। साथ ही हम यह सिफारिश करते हैं कि सुखराम को उसकी वहादुरी के लिए विक्टोरिया क्रॉस दिया जाय। और वावू साहव, आप देखते ही हैं कि सुखराम को विक्टोरिया क्रॉस मिल गया।'

मैं मुसकराया, पर न जाने मैंने क्यों यह प्रश्न कर दिया, 'और इनकी वीवी का क्या है ?'

सुखराम का साथी सुखराम का हाथ पकड़कर उठ खड़ा हुआ। हँसते हुए उसने कहा, 'वीवी ! अरे हाँ, अव इनकी वीवी जव इन्हें पीटने लगती है, तव ये विक्टोरिया क्रॉस जेव में रख लेते हैं।'

तीन वर्ष

ड्राइंग-रूम में चार आदमी बैठे थे। सोफे पर एक सज्जन लेटे हुए थे। इनकी मूँछें घनी और ऊपर की ओर उठी हुई थीं। रंग ज़रा साँवला था, लेकिन चेहरे की बनावट अच्छी। आँखें बड़ी-बड़ी थीं, जिनमें लाल डोरे पड़े थे। सुरमे की लीक आँखों के बाहर निकली थी। दाढ़ी इस सफाई से घुटी हुई थी कि एक भी खूँटी न दिखाई देती थी। एक महीन मलमल का कुरता पहने हुए थे, जिसकी बाँहें चुनी हुई थीं। कुरते के मुड्ढों और चाक पर बेल लगी थी। कुरते के नीचे जालीदार बनियान थी। महीन किनारे की बहुत महीन धोती पहने हुए थे। पेटेन्ट का पम्प शू सोफ़ा के नीचे रखा हुआ था, एक चुनी हुई दुपल्ली टोपी मेज़ पर रखी थी। ये सज्जन अपनी नज़र छत पर गड़ाए हुए बड़े मीठे स्वर में एक गज़ल का एक शेर बेर-बेर गुनगुना रहे थे—

'वजह खामोशी न पूछें आप मुझ दिलगीर से।
एक दिल पाया था वह भी छिन गया तकदीर से।'

दूसरे सज्जन एक कुर्सी पर बैठे हुए सिगरेट का धुआँ छोड़ रहे थे। इनकी आँखें बन्द थीं। ये बीच-बीच में पहले सज्जन के शेर पर वाह-वाह भी कह दिया करते थे। इन सज्जन की मूँछें चुनी हुई-सी और छोटी तथा भूरी; चेहरा लम्बा, दुबला और उस पर बुरी तरह से चेचक के दाग। कान में हीरे की मुरकियाँ पड़ी थीं। कीमखाब की हरे रंग की शेरवानी पहने हुए थे, और उसके नीचे चूड़ीदार पैजामा था, सिर पर जोधपुरी साफ़ा था और पैरों में जयपुरी जूते।

तीसरे सज्जन एक कुर्सी से टिके हुए खड़े थे, और ऐसा मालूम होता था कि वे कलाबाज़ी खाने की बात पर ग़ौर कर रहे हैं। इनका शरीर लम्बा और गठा हुआ, चेहरा सुन्दर, रंग गोरा। मूँछें छोटी-छोटी लेकिन ऊपर उठी हुईं, दाढ़ी घुटी हुई। चमड़े का राइडिंग बूट इनके पैर पर शोभित था जिस पर चमकती हुई एड़ी लगी थी। बूट पर ब्रीचेज़ थी और उस पर हन्टिग कोट। कोट के नीचे स्पोर्ट कालर की कमीज़ थी। सफेद कार्क-हेलमेट को उतारने का इन्होंने अभी तक कष्ट न किया था। इनके एक हाथ में जानीवाकर शराब का अद्धा था और दूसरे में एक शीशे का गिलास। ये सज्जन बोतल को गिलास समझे हुए थे और गिलास को बोतल।

इसलिए ये गिलास से बोतल में शराब उँडेल रहे थे और बहुत नाराज थे कि गिलास से बोतल में शराब क्यों नहीं गिर रही है।

चौथे सज्जन कमरे में टहल रहे थे और धीरे-धीरे अपने को तथा अपने मिलने वालों को गालियाँ दे रहे थे। ये कभी-कभी तीसरे सज्जन की ओर कुछ भय से, कुछ क्रोध से और कुछ ललचाई आँखों से देख लेते थे। ये सज्जन भागलपुरी सिल्क का सूट पहने हुए थे, जिस पर बाज़ार में बिकने वाली बँधी हुई टाई लगी थी। कमीज़ पर सोने के बटन थे और कोट में पीतल के। मँझोले क़द और दोहरे बदन के आदमी थे, रंग गेहुँआ और मूँछ आधी। इनका हैट चपरासी ने बाहर ही उतरवा लिया था, इसीलिए ये नाराज़ थे।

कमरे में अजित कुमार के प्रवेश करते ही जो सज्जन टहल रहे थे, एकाएक रुक गये। ज़ोर से चिल्लाकर उन्होंने कहा—'देखिए कुँवर साहब, आप अपने चपरासी को जल्द यहाँ से निकलवा दें; उसने मेरा हैट बाहर दरवाजे पर ही उतरवा कर ले लिया। जानते हैं जनाब, आपने मुझे अपने यहाँ आमन्त्रित किया है, इसके माने यह नहीं कि आप चपरासी से मेरी इज्जत उतरवा लें।'

ये अभी अपनी बात खत्म भी न कर पाये थे कि ब्रीचेज़ पहने हुए सज्जन बोल उठे, 'जनाब! आप हैं बुज़दिल। चपरासी साले की क्या मज़ाल कि वह किसी रईस की इज़्ज़त ले सके! मुझसे उस चपरासी के बच्चे ने जो हैट माँगा, तो मैंने वह ज़ोर का तमाचा दिया कि वहीं लेट गया।'...इतना कहकर ये सज्जन ज़ोर से हँस पड़े।

इन तीसरे सज्जन की बात सुनते ही कुँवर अजितकुमार सिंह बाहर दौड़े। चपरासी उस समय तक होश में आ गया था। वह दरवाज़े से कुछ दूर हटकर खड़ा था। उसके चेहरे पर पाँच उँगलियाँ साफ़ बनी हुई थीं। अजितकुमार कमरे में लौट आए। इस समय तक सब लोग बैठ गये थे, केवल ब्रीचेज पहने हुए सज्जन शराब और बोतल का झगड़ा सुलझाने में व्यस्त थे और रमेश एक कोने में खड़ा हुआ तमाशा देख रहा था।

अजित ने ब्रीचेज़ पहने हुए सज्जन से कहा, 'कुँवर साहब, क्या मामला है?'

गिलास को ज़मीन पर पटकते हुए उन्होंने कहा, 'जनाब, इस बोतल में शराब ही नहीं, फिर पिऊँ क्या? दूकानदार साले ने ठग लिया, पिस्तौल मार दूँगा, पिस्तौल!'...इतना कहकर उन्होंने बोतल मेज़ पर रख दी और दरवाजे की ओर बढ़े।

—'तीन वर्ष' से।

सीधी-सच्ची बातें

कार अब दिनशा भावबाला के बँगले में पहुँच गई थी। दिनशा भावबाला बरामदे में बैठा हुआ एक अँग्रेज़ी उपन्यास पढ़ रहा था। कार के बँगले में प्रवेश करते ही वह उठ खड़ा हुआ। पोर्टिको में कार रुकी और दिनशा ने बड़े वात्सल्य भाव से कुलसुम के सर पर हाथ रखते हुए कहा, 'तू भी काँग्रेस में शामिल हो गई है। अरी, छोड़ यह सब पागलपन, कुछ भी नहीं होता।' फिर दिनशा ने कुलसुम के साथियों को देखा, 'यहाँ रुकने का इन्तज़ाम पूरा है। यह परवेज़—यह तुम लोगों की देखभाल करेगा, दुकान मैं सँभालूँगा। इधर काँग्रेस होने से विलायती शराब की बिक्री बहुत बढ़ गई है।' और जैसे दिनशा भावबाला को कोई बात याद आ गई हो। 'ए परवेज़, वह ह्विस्की का कंसाइनमेन्ट छुड़ाना है आज, कल रात सब बोतलें ख़त्म हो गईं। तुम स्टेशन चले जाओ, तब तक ये लोग नाश्ता करके आराम करेंगे।'

त्रिभुवन मेहता ने आगे बढ़कर कहा, 'नहीं, हम लोग आपको तकलीफ़ नहीं देंगे, त्रिपुरी में हम लोगों के ठहरने का सब इन्तज़ाम पक्का है। वहाँ बड़ा हैवी प्रोग्राम है हम लोगों का, दिन-रात बैठकें होंगी। अगर कुलसुम चाहें तो यहाँ ठहर सकती हैं।'

'नहीं, मुझे भी तो वहाँ दिन-रात मीटिंगें अटेण्ड करनी हैं, वहाँ ठहरूँगी अकेले। नाश्ता करके परवेज़ हम लोगों को त्रिपुरी पहुँचा दे, वहाँ से वह ह्विस्की का कंसाइनमेंट छुड़ाने स्टेशन चला जाए।' त्रिभुवन मेहता और कुलसुम कावसजी की बातें दिनशा को अच्छी नहीं लगीं। उसने कुछ रूखे स्वर में कहा, 'परवेज़ को अभी इसी वक्त स्टेशन जाना है। ह्विस्की का स्टाक ख़त्म हो गया, मुश्किल से १०-१२ बोतलें होंगी और दस बजते ही ये लोग तुम्हारे काँग्रेसी नेताओं के लिए शराब ख़रीदना शुरू कर देंगे।' वह परवेज़ की ओर घूमा, 'इन लोगों को चाय-नाश्ता कराके इनके लिए दो ताँगे मँगवा दो, त्रिपुरी जाने के लिए।' दिनशा भावबाला बिना किसी उत्तर की प्रतीक्षा किए हुए बरामदे में पहुँचकर उपन्यास पढ़ने लगा।

—'सीधी-सच्ची बातें' से।

सबहिं नचावत राम गोसाईं

ज्ञान किस समय प्राप्त होता है, किन परिस्थितियों में प्राप्त होता है और किस निमित्त से प्राप्त होता है, इसका न कोई नियम है और न कोई विधान है। बहरहाल इतना तय है कि लाला घासीराम को अनायास ही ज्ञान प्राप्त हो गया, और ज्ञान प्राप्त होते ही जैसे उनके जीवन की धारा बदल गई।

बात यह हुई कि उस दिन घासीराम के पौत्र, अर्थात् उनके एकमात्र सुपुत्र मेवालाल के पुत्ररत्न राधेश्याम का अन्नप्राशन संस्कार था। सुबह के समय स्नान करके उन्होंने अपने पौत्र को गोद में लेकर चाँदी की कटोरी में रखकर चाँदी के चम्मच से खीर चटाई और उसके उपलक्ष्य में मेवालाल ने उन्हें चाँदी का एक रुपया दिया। परिवार में यही परम्परा थी, और घासीराम ने अपने पुत्र को यही आदेश भी दिया था। लेकिन मेवालाल ने घर के पुरोहितजी को भी बुलवा लिया था बिना घासीराम के पूछे, और बिना घासीराम से पूछे उनके सामने ही मेवालाल ने पुरोहित-जी को पाँच रुपये दे डाले। यह देखकर घासीराम के बदन में जैसे आग लग गई। लेकिन बहुत प्रयत्न करके उस समय उन्होंने अपने क्रोध को शान्त रखा। पुरोहित के जाने के बाद उन्होंने मेवालाल से कहा, "क्यों रे मेवा, तुमने पाधाजी को क्यों बुलाया था, और उन्हें पाँच रुपये क्यों दिये ?"

"धरमशास्तर में तो यही लिखा है बप्पा; पाधाजी ने ऐसा ही बतलाया था।" मेवालाल ने अपने पिता की नजर से नजर बचाते हुए कहा।

पाधाजी को एक भद्दी गाली देते हुए घासीराम बोले, "वह तो लुटेरा है। हमसे पूछ लिया होता।"

"अब तुम बुढ़ाय रहे हो बप्पा ! पाधाजी को गाली देना तुम्हें शोभा नहीं देता। फिर यह रुपया तो हमने पैदा किया है, जैसा चाहेंगे, वैसा खर्च करेंगे।"

और इस बार घासीराम ने अपने सुपुत्र को गाली दी, "हरामजादा कहीं का ! हमारे गल्ले से रुपया चुराकर कहता है कि तूने पैदा किया है।"

मेवालाल को यह चोरी वाला आक्षेप अखर गया। असलियत यह थी कि मेवालाल को जो जेब-खर्च मिलता था उसे जोड़कर उसने सौ रुपये कर लिये थे और इन रुपयों को ब्याज पर उठाकर उसने अपना धन्धा आरम्भ कर दिया था जिसका

घासीराम को पता नहीं था। मेवालाल ने आव देखा न ताव, एक भरपूर तमाचा अपने बाप के गाल पर मारा, "और बनाओगे चोर! दो सौ रुपया बाज़ार में फैले हैं हमारे—पचीस-तीस रुपया महीना की आमदनी है। साल-भर में हज़ार रुपया न पैदा कर लिया तो हमारा नाम मेवालाल नहीं?"

क्रम बदल रहा था। पहले घासीराम मेवालाल को मारते थे और मेवालाल घासीराम को गाली देता था। उसके बाद मेवालाल बड़ा हुआ, और एक दिन जब घासीराम ने उसे तमाचा मारा तब मेवालाल ने भी उलटकर घासीराम के तमाचा मारा था। उस दिन के बाद घासीराम ने मेवालाल पर हाथ उठाना बन्द कर दिया, वह सिर्फ़ मेवालाल को गाली देकर सन्तोष कर लेते थे। और उत्तर में मेवालाल भी गाली ही देता था। उस दिन पहली बार मेवालाल ने गाली के जवाब में हाथ उठाया था।

इसके बाद लाला घासीराम चुपचाप घर से दुकान चले गये। मेवालाल की अवस्था करीब सत्ताईस-अट्ठाईस साल की थी, गठा हुआ बदन। और लाला घासीराम पचास साल के दुबले-पतले आदमी, पेट के मरीज़। दुकान पहुँचते-पहुँचते उन्होंने तय कर लिया कि अब आगे से वह अपने लड़के को गाली नहीं देंगे। दुकान खोलने के बाद उनकी दुकान में पहला ग्राहक आया जग्गा लुहार। उसे पाव-भर हल्दी लेनी थी, और आदत के अनुसार घासीराम ने डाँडी मारी। जग्गा ठठाकर हँसा, "लाला, जिसके लिए तुम यह सब पाप कर रहे हो उसी ने कुछ देर पहले तुम्हें तमाचा मारा था। तो घर में पिटोगे और भगवान् के यहाँ नरक भोगोगे।"

घासीराम ने हल्दी की दो गाँठें और चढ़ाकर पूछा, "तो तुमने देखा था?"

"हाँ, हम अपनी छत पर थे। तो हमने सब बातें भी सुनीं। अरे, अब बुढ़ाय गये हो तो भगवतभजन करो और अपना परलोक सम्हालो। तुम्हारे पाप मेवा के सर पर और मेवा जो पाप करेगा वह राधे के सर पर। तो तुम अपने पाप रोको। मेवा के पाप खुद रुक जायेंगे और मेवा की गति सुधर जायेगी।" और यह कहकर जग्गा चलता बना था।

घासीराम से अब दुकान पर नहीं बैठा गया, उन्होंने दुकान बढ़ाई और घर वापस आ गए। अपनी कोठरी बन्द करके वह लेट गए और शाम के वक्त जब मेवालाल शहर का चक्कर लगाकर लौटा, घासीराम ने उसे बुलाया।

गम्भीर स्वर में उन्होंने कहा था, "बेटा मेवा, सुबह तुमने कहा था कि हम अब बुढ़ाय गये हैं, तो आज हम दिन-भर यहै सोचते रहे। और अब हमने यह तय कर लिया है कि हम तीरथ-यात्रा पर निकल जाएँ। तुम सयाने हो गये हो, तुम्हारी लुगाई है, तुम्हारे बच्चा है। तुम्हारी अम्मा जिन्दा होतीं तो बात दूसरी थी, अब हम हैं अकेले। तो अब हमारा भगवान् में जी लगाने का वखत आ गया है। दुनिया में जितने पाप किये हैं उन्हें धोने का एक ही उपाय हमारे धरमशास्तर में लिखा है—तीरथ-यात्रा।'

अपने पिता के इस निर्णय से मेवालाल स्तब्ध-सा रह गया, उसने करुण स्वर में कहा, "बप्पा, हमें छमा कर देव। क्या बतावें, हमें गुस्सा आय गया था तो हमारा हाथ उठ गया। तुम्हारी गाली देने की आदत बड़ी खराब है। लेकिन अब हम अपने गुस्सा को रोकेंगे, चाहे तुम हमें जान से ही क्यों न मार डालो।"

अपने पुत्र की इस क्षमा-याचना से घासीराम गद्‌गद हो गये, उनकी आँखों में

आँसू छलक आये, "नहीं वेटा मेवा, हमें तुमसे कोई शिकायत नहीं है, पापी तो हम ही हैं, और पाप काटने का एक ही उपाय है—तीरथ-वरत । तो कल दुपहर की गाड़ी से हम तीरथ-यात्रा पर निकल जाएँगे—यह हमने निश्चय कर लिया है, तुम सयाने हो गये हो, दुकान और घर का कामकाज तुम सम्हाल लोगे ।"

घासीराम की पुत्रवधू दुलारी आँगन में खड़ी हुई यह बातचीत सुन रही थी, अव वह लपककर आई और ससुर के पैरों पर गिर पड़ी, "हम लोगन की खता माफ करो वप्पा । आराम से घर माँ रहो और कामकाज सम्हालो । विना तुम्हारे हम लोग कैसे रहेंगे ?"

घासीराम कुछ देर तक सोचते रहे । एकमात्र तीर्थयात्रा के संकल्प के प्रभाव से पुत्र और पुत्रवधू के रुख में इतना परिवर्तन ! तीर्थ-यात्रा से तो उन्हें निश्चय ही स्वर्ग मिलेगा । और मन-ही-मन वह अपने संकल्प पर अडिग हो गये । उन्होंने केवल इतना कहा, "अव तो तय कर लिया है । अव कल सुवह वात करेंगे, इस समय हम राधा-कृष्ण के मन्दिर जाय रहे हैं, आरती का समय हो रहा है ।" और घासीराम चले गये ।

लाला घासीराम की मुहल्ले में एकमात्र परचून की दुकान थी । नाटे क़द के, दुवले-से और अत्यन्त निरीह दिखने वाले आदमी, लाला घासीराम मुहल्ले-पड़ोस वालों के लिए विनम्रता और मिठवोलेपन के अवतार थे । मुहल्ले-भर के लोग जानते थे कि घासीराम के मुकावले के डाँडी मारने वाले आदमी भगवान् इस दुनिया में कुछ इने-गिने ही पैदा कर पाते हैं । पन्द्रह छटाँक माल को सेर-भर तौल देना तो उनका अटूट नियम था, लेकिन कोई अनजाना वाहरी आदमी फँस जाय तो तेरह या चौदह छटाँक का सेर तुल जाया करता था । और अगर किसी ने उनका कम तौलना पकड़ लिया या टोक दिया तो मजाल है कि लाला घासीराम बुरा मान जायँ । उसी वक्त उन्होंने अपनी ग़लती मान ली, "क्या वताएँ हाथ काँप गया, लेकिन अव जो तुल गया वह तुल गया, अगली दफ़ा कमी पूरी कर देंगे ।" और अगर किसी विगड़े दिल ग्राहक ने लाला घासीराम के दो-एक तमाचे भी जड़ दिये तो लाला घासीराम ने कोई शिकायत नहीं की । अगली दफ़ा उन्होंने फिर डाँडी मारी और उसी मीठेपन के साथ पेश आये ।

लाला घासीराम मुहल्ले-पड़ोस वालों के सामने विनम्र और मिठवोले थे, अपने घर में वह उतने ही क्रोधी स्वभाव के और गाली देने वाले थे । उनकी पत्नी एक साल पहले पुराने वुख़ार से वीमार होकर विना किसी इलाज के लाला घासीराम की गाली-गलौज से मुक्ति पा गयी थी, उनकी पुत्रवधू दुलारी उनकी गाली-गलौज से वेहद परेशान थी ।

लाला घासीराम ने तीर्थयात्रा का जो निर्णय लिया उससे उनके पुत्र और पुत्रवधू—दोनों वहुत अप्रसन्न या दुखी तो नहीं थे, लेकिन आश्चर्यचकित अवश्य थे ।

सुवह जव मेवालाल सोकर उठा, उसने देखा कि उसके वप्पा ने तीर्थयात्रा की सव तैयारी कर रखी है । घासीराम ने मेवालाल को वुला भेजा । अपनी पत्नी और पुत्र के साथ मेवालाल आँखों में आँसू भरे हुए अपने पिता के पास पहुँचा । घासीराम ने अपनी जमा-जथा मेवालाल के हाथ सहेजी, दस हज़ार रुपया नक़द और दस हज़ार रुपये का सोना-चाँदी । चारों धाम की यात्रा का कार्यक्रम था उनका, सव तीर्थ करके अन्त में वदरी-केदार की यात्रा करनी थी जहाँ से दस-पाँच प्रतिशत

लोग ही जीवित लौटते थे।

और इस रक़म के साथ घासीराम ने एक टीन का बक्सा मेवालाल को सौंपते हुए कहा, "इस बक्से में भगवान् को अर्पित रुपया है जिससे हम भगवान् का मन्दिर बनवाना चाहते थे। लेकिन अब हम भगवान् के बड़े-बड़े मन्दिरों का दर्शन करने जाय रहे हैं, तो हम यह बक्सा तुम्हें सौंप रहे हैं। कोई ठिकाना नहीं कि हम ज़िन्दा लौट ही आएँगे। पचास साल के ऊपर उमर हो गयी है।"

यह बात सन् १९२०-२१ की है जब सोना बीस रुपया तोला बिकता था, गेहूँ रुपये का पन्द्रह-बीस सेर बिकता था, घी रुपये का सेर या सवा सेर बिकता था और चीनी तीन आने सेर बिकती थी। और सबके साथ आदमी पचास-पचपन साल की उम्र में बूढ़ा हो जाता था और साठ-पैंसठ की अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते चल बसता था।

अपनी बात कहते-कहते घासीराम भावुक हो उठे, "बेटा मेवा, जिन्दगी का कोई ठिकाना नहीं। अगर हम एक साल तक वापस न लौटें तो समझ लेना कि हम गोलोकवासी हो गये हैं। तब इस बक्से का ताला तोड़कर इसकी रक़म निकाल लेना, और हमारे नाम से एक मन्दिर बनवा देना।" और कुछ रुककर उन्होंने फिर कहा, "लेकिन यह भगवान् के नाम का रुपया तुम खुद न हड़प कर जाओगे, इसका बचन दो।"

मेवालाल ने बड़े भक्ति-भाव से कहा, "हम बचन देते हैं बप्पा।"

घासीराम बोल उठे, "हमें तुम्हारे बचन का कोई भरोसा नहीं, तुम बड़े झूठे और हरामज़ादे हो।"

मेवालाल ने इस बार अपने पिता की गाली का बुरा नहीं माना, वियोग के उस क्षण में उसने अपनी आँखों में आँसू भरकर कहा, "बप्पा तुम निसाखातिर रहो। भगवान् के साथ हम कोई दगा नहीं करेंगे।"

"नहीं, तुम्हारा कोई भरोसा नहीं, राधे की क़सम खानी होगी तुम्हें।"

और भावावेश में आकर मेवालाल ने राधेश्याम की कसम खा ली।

दोपहर की गाड़ी से घासीराम काशी के लिये रवाना हो गये। काशी से बैजनाथ धाम, वहाँ से जगन्नाथपुरी, इसके बाद रामेश्वरम्, वहाँ से नासिक, फिर द्वारिकापुरी—फिर पुष्कर तीर्थ, मथुरा होते हुए बदरी-केदार। यह कार्यक्रम था उनका।

मेवालाल के मकान के सामने एक खँडहर पड़ा था जो कभी एक हवेली के रूप में रहा होगा। उस खँडहर के स्वामी मुंशी शीतलासहाय क़रीब एक साल से लकवे में बीमार पड़े थे, उस खँडहर की एक टूटी हुई कोठरी में। घासीराम को गाड़ी पर सवार करके जैसे ही मेवालाल घर लौटा, मुंशी शीतलासहाय के नौकर ननकू ने हाँफते हुए मेवालाल से कहा, "भइया, सरकार की हालत बहुत खराब है। लाला घासीराम की याद कर रहे हैं।"

"वह तो तीरथयात्रा पर गये हैं—हम उन्हें गाड़ी पर चढ़ाय के अभी-अभी आय रहे हैं। पूछ आओ जायके क्या काम है—अगर कहें तो हम चले आवें।"

ननकू ने लौटकर कहा, "तुम ही चलो भइया, सरकार के छोटे भाई आये हैं, दोनन माँ कहा-सुनी हुइ रही है।"

जिस समय मेवालाल शीतलासहाय की कोठरी में पहुँचा, मुंशी शीतलासहाय

आँखें मूंद लेटे थे। और उनके छोटे भाई मुंशी हरसहाय आँखों में आँसू भरे हुए कह रहे थे, "मैं आपकी खिदमत नहीं कर सका, इसका मुझे मलाल है। लेकिन क्या करूँ, अपनी मजबूरी। आपकी खिदमत के लिए दो सौ रुपयों का ग़बन किया था, लेकिन ज़रा-सी लापरवाही हो गयी और उसी वक़्त धर लिया गया। थानेदार हज़ार रुपया माँगता है रिश्वत की तौर से, कहता है बड़ा संगीन जुर्म है।"

मुंशी शीतलासहाय ने लड़खड़ाते स्वर में कहा, "हट जाओ—मरो—भुगतो।"

मेवालाल ने फ़ौरन ही सारी बात समझ ली। हवेली के हिस्सेदार दो थे—मुंशी शीतलासहाय और मुंशी हरसहाय। उसने हरसहाय का हाथ पकड़कर अलग ले जाकर कहा, "आपके भाई तो बीमार हैं, आप मुझसे कहिये।"

"मुझे एक हज़ार रुपये की सख्त जरूरत है, बस इतनी-सी बात है। मैं यह हवेली बेचना चाहता हूँ।"

"इस खँडहर के एक हज़ार कौन देगा? फिर आपके हिस्से में तो आधी ही हवेली पड़ती है।"

"यह हवेली पूरी बिकेगी।" मुंशी हरसहाय ने कहा, "दादा के दस्तखत मैं करा दूंगा। वैसे लाला धानामल इसके दो हज़ार देने को तैयार हैं, लेकिन वह परसों इलाहाबाद चले गये हैं, एक हफ्ता बाद लौटेंगे, और रुपया मुझे आज-कल में चाहिए। अगर तुम खरीदना चाहो तो पन्द्रह सौ रुपये में सौदा पक्का हो सकता है। एक हज़ार रुपया मैं ले जाऊँगा, पाँच सौ रुपया दादा के रहेंगे तुम्हारे पास। साल भर से ज्यादा दादा नहीं चलेंगे, पाँस सौ रुपयों में दो साल मज़े में कट सकते हैं। दादा के मरने पर हवेली पर तुम्हारा कब्जा।"

मेवालाल ने बड़ी तेज़ी के साथ मन-ही-मन हिसाब लगाया और सोचा, फिर उसने कहा, "अच्छी बात है, मुझे मंज़ूर। कल लिखा-पढ़ी हो जायेगी।"

दूसरे दिन एक हज़ार रुपया लेकर मुंशी हरसहाय चले गये। शीतलासहाय के दस्तखत उन्होंने उन्हें बिना कुछ बतलाये करा लिये थे। और जब हरसहाय के जाने के बाद मेवालाल शाम के समय शीतलासहाय के पाँच सौ रुपया देने पहुँचा, तब शीतलासहाय को पता चला कि हवेली बिक चुकी है। और इस खबर का इतना गहरा सदमा शीतलासहाय को लगा कि रात के समय ही वह चल बसे। मेवालाल ने बड़ी लगन के साथ शीतलासहाय का अन्त्येष्टि-संस्कार कराया, उसके पास शीतलासहाय की पाँच सौ की रक़म जो मौजूद थी।

घासीराम की दुकान तीन दिन तक बन्द पड़ी रही, चौथे दिन मेवालाल ने अपने चचेरे भाई जगेसर को बुलाकर पूछा, "कहो जगेसर, क्या कर रहे हो आजकल?"

"चौक में चाट का खोंचा लगाते हैं।" जगेसर ने उत्तर दिया।

"बप्पा की यह परचून की दुकान सम्हालोगे? मुनाफे पर आधा साझा।"

"खोंचे से यह दुकान तो ज्यादा अच्छी रहेगी।" जगेसर ने कुछ सोचकर कहा, "लेकिन बखेड़े का काम है।"

"कैसा बखेड़ा?" मेवालाल ने पूछा।

"यही कि अगर ताऊजी आ गये तो दुकान छोड़नी पड़ेगी। फिर साझे की खेती, गदहा भी नहीं चरता है उसे।"

मेवालाल ने मुसकराते हुए कहा, "कहीं कोई बदरी-केदार से वापस लौटता है भला और रही साझे की बात, तो तुम दुकान की पूंजी चुकाय के जब चाहे साझा तोड़ सकते हो। दुकानदार हो जाओगे तो हैसियत बन जायेगी।"

जगेसर बोला, "अच्छी बात है मेवा भइया। तो कल से हम दुकान सम्हालेंगे।"

छै महीने के अन्दर ही मेवालाल ने अपने मकान के सामने वाली हवेली को तुड़वाकर दुमंज़िला पक्का मकान बनवा लिया, बिल्कुल आधुनिक ढंग का। नीचे की मंजिल में सड़क से लगा एक बड़ा-सा हाल था—पीछे दो कमरे। और ऊपर चार कमरे। हवेली का मलवा तो मौजूद ही था, पाँच हज़ार रुपयों में मकान बन गया। और मकान पर एक बड़ा-सा साइनबोर्ड लग गया—मेवाराम ऐण्ड सन्स, बैंकर्स।

अगर घासीराम डाँडी मारने में कुशल थे तो मेवालाल जालसाज़ी और तिकड़मबाज़ी में आसपास के किसी तिकड़मबाज़ से कमज़ोर नहीं पड़ता था। पाँच हज़ार नक़द और पाँच हज़ार के सोना-चाँदी से जो कामकाज आरम्भ हुआ तो छै महीने के अन्दर ही वह इतना फैल गया कि मेवालाल की गणना नगर के धनी-मानी व्यक्तियों में होने लगी। लाखों का लेन-देन फैला हुआ था उसका।

घासीराम को तीर्थयात्रा पर गये हुए एक साल बिना मेवालाल के जाने हुए बीत गया। उस दिन राम नवमी थी। दोपहर के बारह बजे के समय रामजन्म मनाकर जब मेवालाल फलाहार करने बैठा तब अनायास ही उसे अपने पिता की याद आ गई। एक साल पहले नवरात्रि के दिनों में ही घासीराम तीर्थयात्रा पर निकले थे। उस समय दुलारी पास बैठी थी। मेवालाल ने कहा, "आज नौरात ख़तम हो रही है, पिछली नौरात में बप्पा तीरथ-यात्रा पर गये थे।"

"अरे हाँ—हम तो भूल ही गयी थीं।" दुलारी बोली, "कोई ख़बर ही नहीं दी उन्होंने। भगवान् जाने कहाँ होंगे—साल भर के ऊपर हो गए हैं उन्हें गए भए।"

"भगवान् के यहाँ पहुँच गये होंगे।" मेवालाल बोला, "अगर वह आकर हम लोगों को देखते तो उनका जी जुड़ जाता।"

दुलारी की आँखों में आँसू आ गये, "का बताई ज़िन्दगी भर तकलीफ़ उठाइन। न गत क खाइन, न पहिरिन। उनके भाग मां यहै बदा रहा।"

"सो तो ठीक है, लेकिन भगवान् पर उनको कितना विश्वास रहा—सब तीरथ कर डालिन—हम लोगन से सेवा नहीं कराइन, बीमारी माँ घिसटे नाहीं। अरे हाँ, बप्पा जात समे एक बक्सा दे गये रहें जिसमें भगवान् के नाम का रुपया था। कह गये रहे कि अगर एक साल के अन्दर न लौटें तो बकसा से रुपया निकाल के उनके नाम से एक मन्दिर बनवा दें।"

"वह बकसा हमारे पास रखा है।" दुलारी बोली।

"तो ले आ वह बकसा। आज रामनवमी का दिन है—शुभ काम के लिए।"

बकसे का ताला तोड़ा गया, उसमें कुल पाँच सौ रुपये थे। निराश मुद्रा में मेवालाल ने कहा, "भला पाँच सौ रुपए में कोई ठाकुरद्वारा बन सकता है? इसमें तो एक मढ़िया मुश्किल से बन पायेगी।"

दुलारी ने सिर हिलाया, "तो फिर मढ़िया ही बनवाइ देव। बप्पा की आत्मा

को शान्ति तो मिलेगी।"

"देखो, सोचेंगे क्या किया जाये।" मेवालाल ने रुपया दुलारी को सहेजते हुए कहा, "वैसे बनवाना तो एक अच्छा-सा ठाकुरद्वारा ही होगा—भगवान् की क्रिरपा होनी चाहिए।"

मेवालाल की हवेली की बगल में म्यूनिसिपल बोर्ड की एक छोटी-सी तिकोनी ज़मीन थी जिस पर कभी एक पार्क था। लेकिन म्यूनिसिपल बोर्ड के कर्मचारियों की लापरवाही से पार्क उजड़ गया था और मुहल्ले के लौंडे वहाँ गुल्ली-डण्डा खेला करते थे। दूसरे दिन जब मेवालाल अपनी गद्दी पर बैठा था, मुहल्ले के पुरोहित पण्डित रामभजन पाण्डे के साथ गोपालजी नाम के सुप्रसिद्ध कथावाचक आ पहुँचे। मेवालाल ने दोनों ब्राह्मणों का यथोचित स्वागत-सत्कार करके उनके पधारने का कारण पूछा।

रामभजन पाण्डे ने उत्तर दिया, "लालाजी, इन गोपालजी के मुखारविन्द से जिस-जिसने श्रीमद्भागवत की कथा सुनी है उसके सिगरे पाप कट गये। सो हम मना लाये हैं इन्हें। आप हमारे मुहल्ले के सबसे बड़े साहूकार हैं—आपही लोगों के परताप से धरम-करम कायम है सो आप श्रीमद्भागवत की कथा का प्रबन्ध करा दें।"

मेवालाल इतनी आसानी से फँसने वाले जीव नहीं थे, उन्होंने कहा, "धन्य भाग हमारे जो महाराज गोपालजी पधारे, लेकिन हमारे यहाँ तो जगह है नहीं जहाँ कथा हो। फिर अपने पास इतना समय भी नहीं है जो कथा का प्रबन्ध करें। बाकी कथा सुनने की लालसा हममें ज़रूर है। सो कथा का प्रबन्ध तुम्हें ही करना पड़ेगा पाण्डेजी, मुहल्ले-पड़ोस से चन्दा करके। यह दो रुपये हमारे रहे।" और मेवालाल ने दो रुपये निकालकर रामभजन पाण्डे को पकड़ा दिये।

रामभजन का चेहरा खिल गया, "अस्थान तो आपकी हवेली की बगल वाला पारक अति उत्तम रहेगा। सो एक शामियाना लगाकर कथा का प्रबन्ध कराये लेते हैं। बाकी म्यूनिसिपलिटी वाले कोई झंझट न खड़ा करें, यह ज़िम्मेदारी आपकी होगी। अब की पूरनमासी के दिन से कथा आरम्भ समझो।"

रामभजन पाण्डे आदमी लगन के थे, आनन-फ़ानन उन्होंने बीस रुपये का चन्दा कर लिया। और उस तिकोनिया पार्क में किराये का शामियाना लगाकर कथा आरम्भ हो गई। कथारम्भ के दिन लाला मेवालाल बैंकर ने मुख्य श्रोता का स्थान ग्रहण किया। कथा धूम-धाम से आरम्भ हुई। पहले श्रीमद्भागवत की आरती उतारी गई, लेकिन आरती में कुल सात आने पैसे चढ़े। गोपाल पण्डित का मुँह उतर गया, लेकिन यह सोचकर कि बाद वाली आरती में चढ़ावा चढ़ेगा, उन्होंने लगन के साथ कथा बाँची। लेकिन कथा समाप्त होते ही लोग-बाग खिसक गए। गोपाल पण्डित की हालत देखने क़ाबिल थी। मेवालाल यह सब देख रहे थे। एकाएक इनके मन में एक विचार कौंध गया। आरती होती है भगवान् की, किताब की नहीं होती—जनता भगवान् पर चढ़ावा चढ़ाएगी।

एक हफ़्ता हुआ मेवालाल के हाथ किसी दूसरे नगर का एक आदमी राधाकृष्ण की बड़ी मूर्तियों की जोड़ी पुराने पीतल के दामों बेच गया था और मेवालाल इन मूर्तियों को गलवाने में हिचक रहे थे, क्योंकि दुलारी का कहना था कि भगवान् की मूर्तियाँ गलवाने में पाप लगेगा। उन्होंने दूसरे दिन पार्क के एक पुराने नीम के पेड़ के नीचे व्यासपीठ बनवाकर ये मूर्तियाँ रख दीं और उसी दिन से चढ़ावा चढ़ने लगा।

एक महीना तक श्रीमद्भागवत की कथा चली। कथा समाप्त हो गई और शामियाना उखड़ गया। लाला मेवालाल ने रामभजन पाण्डे को बुलाकर कहा, "पाण्डेजी, कथा भले ही समाप्त हो गई हो लेकिन भगवान् की मूर्ति अब स्थापित हो गई है, सो भगवान् की आरती बाक़ायदा रोज़ होती रहे, यह जिम्मेदारी तुम पर।"

"लेकिन लालाजी, खुले में ये मूर्तियाँ रखी रहेंगी तो इन्हें कोई चुरा न ले जाएगा। हम दिन-भर तो इनकी रखवाली नहीं कर सकते।"

मेवालाल मुसकराये, "पाण्डेजी, तुमने हमें इतना मूरख समझ रखा है क्या कि हमने इस पर सोचा न हो। एक पक्की मढ़िया यहाँ आज दिन-भर में बन जाय, और इस मन्दिर का नाम राधेश्याम ठाकुरद्वारा रख दिया जाय। सो रुपये हमसे अभी ले लो चलकर। और इस देवालय को तुम सँभालो। सुबह-शाम आरती हो, चढ़ावा चढ़े और तुम काम से लग गए।"

तीन दिन के अन्दर एक छोटा-सा देवालय बन गया वहाँ पर। संगमर्मर का फ़र्श, उस पर पाँच फुट ऊँचा, तीन फुट लम्बा और तीन फुट चौड़ा भगवान् का गृह बन गया। आधा संगमर्मर का और आधा सीमेण्ट और ईंटों का। घासीराम के पाँच सौ रुपये लग गए उस पर। मुख्य पुजारी रामभजन पाण्डे बने, और वहीं पास में पचास रुपये की लागत से फूस की एक झोंपड़ी भी रामभजन के वास्ते बन गई। सुबह-शाम भगवान् की आरती होने लगी, और चढ़ावा चढ़ने लगा, और वह तिकोनिया पार्क अब राधेश्याम पार्क कहलाने लगा।

दो महीने बाद यह खबर म्यूनिसिपल बोर्ड के अधिकारियों तक पहुँची कि सरकारी ज़मीन पर कब्जा हो गया है। हुक्म हुआ कि मन्दिर गिरा दिया जाय और झोंपड़ी उजाड़ दी जाय। जिस समय म्यूनिसिपल बोर्ड के अफ़सर, कुली और मज़दूर इस काम के लिए पहुँचे मुहल्ले-भर में बिजली की तरह यह खबर फैल गई कि भगवान् का मन्दिर तोड़ा जा रहा है। मुहल्ले वालों की भीड़ इकट्ठी होने लगी इसका विरोध करने के लिए। इस बीच मेवालाल ने पाँच आदमी दौड़ा दिये, शहर भर में यह प्रचार करने के लिए कि म्यूनिसिपल बोर्ड वाले भगवान् के मन्दिर को तोड़ रहे हैं। परिणाम यह हुआ कि दो घंटे के अन्दर नगर के निठल्ले साधु-संन्यसियों और गुण्डों की एक भीड़ इकट्ठा हो गई। पाँच हज़ार आदमियों की भीड़ देखकर म्यूनिसिपल बोर्ड के आदमी अपनी-अपनी जान लेकर भागे। और इधर राधेश्याम के मन्दिर में अखण्ड कीर्तन आरम्भ हो गया।

अब मेवालाल ने खुलकर नेतृत्व अपने हाथ में ले लिया। उनके तत्त्वावधान में एक मन्दिर समिति का संगठन हुआ जिसमें नगर के प्रमुख सेठों का नाम सम्मिलित किया गया। चन्दा इकट्ठा होने लगा। धर्म के नाम पर जबरदस्ती चन्दा वसूल करके दस हज़ार रुपये की रकम इकट्ठा हो गई।

उधर म्यूनिसिपल बोर्ड वाले सरकार से लिखा-पढ़ी कर रहे थे कि इस मामले में क्या किया जाय और इधर मेवालाल ने नीम का पेड़ कटवाकर उस पाँच फुट ऊँचे देवालय को ढककर एक विशालकाय मन्दिर बनवाना आरम्भ कर दिया। कीर्तन के लिए एक बहुत बड़ा सहन मन्दिर के सामने बन गया। और मन्दिर बनने के बाद कुछ भक्तगणों ने हिन्दुस्तान के एक बहुत बड़े राजनीतिक नेता से मन्दिर का उद्घाटन करवा दिया। इस धार्मिक समारोह से भी अच्छी-खासी आय हो गई।

मन्दिर-समिति का बाक़ायदा एक ट्रस्ट बन गया और उस ट्रस्ट के पाँच सदस्य

बने—मेवालाल, दुलारीदेवी, राधेश्याम, रामभजन पाण्डे श्रौर गोपालजी कथावाचक। इस ट्रस्ट की रजिस्ट्री करा ली गई।

म्यूनिसिपल बोर्ड वाले चुप होकर बैठ गए, सरकार धार्मिक उपद्रव नहीं कराना चाहती थी। श्रौर ट्रस्ट बनने के बाद मेवालाल ने श्रपनी पत्नी से कहा, "देख लिया, बप्पा के कहने के श्रनुसार उनके रुपयों से यह विशाल मन्दिर खड़ा हो गया है। बप्पा की पुण्यात्मा का ही यह परताप है। श्रागे-श्रागे देखना यह मन्दिर बड़ा भागवान होगा हम लोगों के लिए।"

—'सबहिं नचावत राम गोसाईं' से

भैंसागाड़ी

चरमर चरमर चूं-चरर-मरर
जा रही चली भैंसागाड़ी।

गति के पागलपन से प्रेरित
चलती रहती संसृति महान,
सागर पर चलते हैं जहाज़,
अम्बर पर चलते वायुयान,
भूतल के कोने कोने में
रेलों ट्रामों का जाल बिछा,
हैं दौड़ रहीं मोटरें-बसें
लेकर मानव का वृहत् ज्ञान।

पर इस प्रदेश में जहाँ नहीं
उच्छ्वास, भावनाएँ, चाहें,
वे भूखे, अधखाये किसान
भर रहे जहाँ सूनी आहें।
नंगे बच्चे चिथड़े पहने
माताएँ जर्जर डोल रहीं,
है जहाँ विवशता नृत्य कर रही
धूल उड़ाती हैं राहें।

बीते युग की परछाईं-सी
बीते युग का इतिहास लिये,
'कल' के उन तन्द्रिल सपनों में
'अब' का निर्दय उपहास लिये,
गति में किन सदियों की जड़ता?

मन में किस स्थिरता की ममता ?
अपनी जर्जर-सी छाती में
अपना जर्जर विश्वास लिये,
भर-भर कर फिर मिटने का स्वर,
कँप-कँप उठते जिसके स्तर-स्तर,
हिलती-डुलती, हँपती-कँपती,
कुछ रुक-रुक कर, कुछ सिहरसिहर,
चरमर - चरमर-चूं-चरर - मरर
जा रही चली भैंसागाड़ी !

उस ओर क्षितिज के कुछ आगे
कुछ पाँच कोस की दूरी पर
भू की छाती पर फोड़ों-से
हैं उठे हुए कुछ कच्चे घर !
मैं कहता हूं खँडहर उसको,
पर वे कहते हैं उसे ग्राम,
जिसमें भर देती निज धुँधलापन
असफलता की सुबह-शाम,
पशु बन कर नर पिस रहे जहाँ
नारियाँ जन रही हैं गुलाम,
पैदा होना फिर मर जाना,
बस यह लोगों का एक काम,

था वहीं कटा दो दिन पहले
गेहूं का छोटा एक खेत !

तुम सुख-सुषमा के लाल
तुम्हारा है विशाल वैभव-विवेक,
तुमने देखी है मान भरी
उच्छृंखल सुन्दरियाँ अनेक
तुम भरे-पुरे, तुम हृष्ट-पुष्ट
हो तुम समर्थ कर्ता हर्ता,
तुमने देखा है क्या बोलो
हिलता-डुलता कंकाल एक ?

वह था उसका ही खेत, जिसे
उसने उन पिछले चार माह,
अपने शोणित को सुखा-सुखा,

भर-भर कर अपनी विवश आह,
तैयार किया था, औ घर में
थी रही रुग्ण पत्नी कराह!

उसके वे बच्चे तीन, जिन्हें
माँ बाप का मिलता प्यार न था,
जो थे जीवन के व्यंग, किन्तु
मरने का भी अधिकार न था,
थे क्षुधा-ग्रस्त बिलबिला रहे,
मानो वे मोरी के कीड़े,
थे निपट घिनौने, महा पतित
बौने कुरूप टेढ़े-मेढ़े!

उसका कुटुम्ब था भरा-पुरा
आहों से, हाहाकारों से!
फ़ाकों से लड़-लड़ कर प्रतिदिन,
घुट-घुटकर अत्याचारों से,

तैयार किया था उसने ही
अपना छोटा-सा एक खेत!

बीवी-बच्चों से छीन, बीन
दाना दाना, अपने में भर
भूखे तड़पें या मरें, भरों
का तो भरना है उसको घर!
धन की दानवता से पीड़ित
कुछ फटा हुआ, कुछ कर्कश स्वर,
चरमर - चरमर - चूँ- चरर-मरर
जा रही चली भैंसागाड़ी!

है बीस कोस पर एक नगर,
उस एक नगर में एक हाट,
जिसमें मानव की दानवता
फैलाये है निज राज-पाट,
साहूकारों का भेस धरे
हैं जहाँ चोर औ गिरहकाट;
है अभिशापों से घिरा जहाँ
पशुता का कलुषित ठाट-बाट!

उसमें चाँदी के टुकड़ों के
बदले में लुटता है अनाज,
उन चाँदी के ही टुकड़ों से
तो चलता है सब राज-काज !

वह राज-काज, जो सधा हुआ
है उन भूखे कंकालों पर,
इन साम्राज्यों की नींव पड़ी
है तिल तिल मिटने वालों पर !

वे व्यापारी, वे ज़मींदार,
वे हैं लक्ष्मी के परम भक्त,
वे निपट निरामिष सूदख़ोर,
पीते मनुष्य का उष्ण रक्त !

इस राज-काज के वही स्तम्भ,
उनकी पृथ्वी उनका ही धन,
वे ऐश और आराम उन्हीं के,
और उन्हीं के स्वर्ग सदन !

उस बड़े नगर का राग रंग
हँस रहा निरन्तर पागल-सा,
उस पागलपन से ही पीड़ित
कर रहे ग्राम अविकल क्रन्दन !

चाँदी के टुकड़ों में विलास
चाँदी के टुकड़ों में है बल,
इन चाँदी के ही टुकड़ों में
सब धर्म-कर्म, सब चहल-पहल !
इन चाँदी के ही टुकड़ों में
है मानव का अस्तित्व विफल।

चाँदी के टुकड़ों को लेने
प्रतिदिन पिसकर, भूखों मर कर,
भैंसागाड़ी पर लदा हुआ
जा रहा चला मानव जर्जर,
है उसे चुकाना सूद क़र्ज़,
है उसे चुकाना अपना कर
जितना खाली है उसका घर
उतना खाली उसका अन्तर !

नीचे जलने वाली पृथ्वी
ऊपर जलने वाला अम्बर;
औ कठिन भूख की जलन लिये
नर बैठा है बनकर पत्थर!
पीछे है पशुता का खँडहर,
दानवता का सामने नगर,
मानव का कृश कंकाल लिये!

चरमर - चरमर - चूँ-चरर - मरर
जा रही चली भैंसागाड़ी!

टेढ़े-मेढ़े रास्ते

"हलो प्रभा!" उमानाथ ने प्रभानाथ से हाथ मिलाते हुए कहा, "कौन-कौन मुझे रिसीव करने आया है?"

"अकेला मैं!"

"अकेले तुम! चलो यह अच्छा हुआ!" उमानाथ ने कुछ रुककर कहा, "बात यह है कि मेरी बीवी भी साथ में आयी है—वह अभी स्टीमर में ही है। मैं साथ इसलिए नहीं लाया कि कहीं ददुआ, काकाजी या बड़के भइया न आये हों!" उमानाथ के मुख पर अब मुस्कराहट आ गयी थी, "खैर, अब चिन्ता की अब कोई बात नहीं—उसे भी मैं साथ ही लिये आता हूँ!" यह कहकर उमानाथ फिर से जहाज के अन्दर चला गया और प्रभानाथ उमानाथ को आश्चर्य से देखता रह गया।

क़रीब पन्द्रह मिनट बाद उमानाथ एक स्त्री के साथ वापस आया। वह स्त्री यूरोपियन थी और उसकी अवस्था तीस वर्ष की रही होगी। वह सुन्दर कही जा सकती थी; उसकी आँखें गहरी नीली थीं और उनमें चमक थी, उसका चेहरा लम्बा और कठोर और बाल छोटे-छोटे तथा अस्त-व्यस्त थे। उमानाथ उस स्त्री के साथ आकर प्रभानाथ के सामने खड़ा हो गया, "प्रभा, यह मेरी पत्नी हिल्डा है—और हिल्डा, ये मेरे भाई प्रमानाथ!"

हिल्डा ने अपना हाथ बढ़ाया, लेकिन प्रभानाथ वैसा ही खड़ा रहा। उसका सारा शरीर सुन्न-सा पड़ गया था; उसका जी न हो रहा था कि वह अपनी आँखों और अपने कानों पर विश्वास करे। उसने कहा, "तो क्या आपने जर्मनी में एक विवाह और कर लिया?"

उमानाथ हँस पड़ा, "देख तो रहे हो—मेरी पत्नी मेरे साथ है। लेकिन प्रभा, तुम एकदम सन्नाटे में कैसे आ गये?"

प्रभानाथ ने अपने अन्दरवाले उमड़ते हुए रुदन को दबाते हुए कहा, "और यह जानती हैं कि आप विवाहित हैं?"

"हाँ। यह भी जानती है कि मैंने अपनी पहली पत्नी से अपनी इच्छा के अनुसार विवाह नहीं किया, वह मेरे गले जबर्दस्ती मढ़ दी गयी है। मैं उसे प्रेम नहीं करता, कर भी नहीं सकता; वह मेरे लिए त्याज्य है।" और यह कहकर उसने हिल्डा से अँग्रेजी में

कहा, "हिल्डा, मेरा भाई जानना चाहता है कि क्या तुम्हें यह मालूम था कि हिन्दुस्तान में मेरा विवाह हो चुका है और मेरी पत्नी वहाँ मौजूद है।"

हिल्डा ने प्रभानाथ से अंग्रेजी में कहा, "हाँ, हाँ—उमा ने सब बात मुझे बतला दी थी—कितना भला आदमी है यह तुम्हारा भाई!" और यह कहकर उसने वहीं उमानाथ को चूम लिया।

प्रभानाथ ने अपनी आँखें फेर लीं—उमानाथ हँस पड़ा। उसने प्रभानाथ से कहा, "अच्छा चलो, यह न तो बात करने की जगह है और न समय है!"

प्रभानाथ स्टियरिंग ह्वील पर बैठा और उमानाथ उसकी बगल में। हिल्डा पीछे की सीट पर बैठी थी।

उमानाथ ने पूछा, "क्यों प्रभा, ददुआ के न आने का कारण तो मैं समझ सकता हूँ कि वह कहीं आते-जाते नहीं, और काकाजी के भी न आने का, क्योंकि उन्हें छुट्टी न मिली होगी। लेकिन बड़के भइया क्यों नहीं आये, यह ताज्जुब की बात है!"

प्रभानाथ ने अनमने भाव से कहा, "बडके भइया को ददुआ ने घर से अलग कर दिया है।"

"क्या कहा?" उमानाथ चौंक उठा, "बड़के भइया को ददुआ ने घर से अलग कर दिया? यह क्यों?"

"बड़के भइया कांग्रेसमैन हो गये हैं।"

"तो इसमें बुरा ही क्या है?"

"बुरा-भला तो ददुआ जानें।"

"समझा!" उमानाथ मुस्कराया, "तो फिर मैं अकेला नहीं हूँ, बड़के भइया भी मेरे साथ हैं।"

"क्या कहा आपने?—क्या आप भी कांग्रेसमैन हैं?"

"नहीं—इतना बड़ा बेवकूफ नहीं हूँ कि कांग्रेस-वांग्रेस के चक्कर में पडूँ।" उमानाथ हँस पड़ा, फिर कुछ गम्भीर होकर उसने कहा, "देखो प्रभा, किसी को बतलाना नहीं! मैं बड़के भइया से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण, कहीं अधिक उपयोगी, कहीं अधिक सार्थक काम कर रहा हूँ। मैं समाजवादी हूँ।"

प्रभानाथ ने उमानाथ की बात ध्यान से सुनी, लेकिन उसने उस पर कुछ कहा नहीं। उसने केवल एक बार अपने भाई की ओर गौर से देखा।

"क्यों? इस तरह मुझे क्यों देख रहे हो? जानते हो, मेरी पत्नी भी समाजवादी है। प्रभा, इस युग की उलझनों की एकमात्र सुलझन है समाजवाद। मैं जहाँ से आ रहा हूँ, जिस वातावरण में मैं रहा हूँ, वहाँ मैंने जीवन का संघर्ष देखा है और मैंने उस पर मनन किया है।"

कार इस समय तक होटल के सामने पहुँच गयी थी। प्रभानाथ ने कार रोकते हुए कहा, "लीजिए, हम लोग पहुँच गये।"

सब लोग कार से उतरकर ऊपर गये। प्रभानाथ ने खाना आर्डर किया। फिर वह अपने भाई के पास आकर बैठ गया। हिल्डा ने अपना सिगरेट-केस निकालकर एक सिगरेट उमानाथ को दी, फिर उसने सिगरेट-केस प्रभानाथ की तरफ़ बढ़ाया।

प्रभानाथ ने ग्लानि से अपना मुँह फेरते हुए कहा, "धन्यवाद! मैं सिगरेट नहीं पीता।"

"अच्छा करते हो !" उमानाथ ने सिगरेट सुलगाते हुए कहा, "क्या बतलाऊँ यार प्रभा, मैं इन लोगों के चक्कर में पड़कर न जाने क्या-क्या पीना सीख गया हूँ, और पीना इतना बुरा भी नहीं है, जितना कुछ लोगों ने समझ रखा है। फिर भी मैं तुम्हें पीने की सलाह न दूँगा, अगर बिना पिये मस्त रह सको तो इससे बढ़कर कोई बात नहीं।"

प्रभानाथ चुप बैठा सोच रहा था। उसके सामने बैठा था उसका बड़ा भाई उमानाथ, जिसे वह लड़कपन से बहुत मानता रहा था, जिससे उसके पिता को और उसके परिवार को बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं, जिसकी उसकी देवी के तुल्य भाभी घर में उत्कण्ठा के साथ प्रतीक्षा कर रही थी। और उस भाई की बगल में बैठी थी एक जर्मन-स्त्री जो उमानाथ की पत्नी बनकर उसके घर में भयानक अभिशाप के रूप में, उसकी भाभी के लिए साकार वैधव्य बनकर आयी थी। और यह स्त्री उमानाथ से उम्र में बड़ी थी।

इतने में वीणा ने कमरे में प्रवेश किया। वीणा के कमरे में आते ही सब लोग चौंक पड़े। प्रभानाथ ने खड़े होकर वीणा से कहा, "वीणा! ये मेरे भाई मिस्टर उमानाथ हैं और ये मेरे भाई की दूसरी पत्नी श्रीमती हिल्डा तिवारी हैं...।" और इस बार उसने उमानाथ की ओर घूमकर कहा, "ये मेरी मित्र श्री वीणा मुकर्जी हैं।"

वीणा ने नमस्कार किया और उमानाथ और हिल्डा ने नमस्कार का उत्तर दिया। वीणा कुर्सी पर बैठ गयी।

थोड़ी देर ठहरकर वीणा ने प्रभानाथ से कहा, "मैंने अपने वास्ते मकान ले लिया है। अपना सामान लेने आयी हूँ, नीचे रिक्शा खड़ा है।।"

"अरे! रिक्शा क्यों लेती आई? मैं अपनी कार से आपको पहुँचा दूंगा। और अब आप खाना खाकर ही यहाँ से जा पाइयेगा!" प्रभानाथ ने दरवाजे की ओर बढ़ते हुए कहा, "रिक्शा विदा करके मैं अभी आता हूँ।"

प्रभानाथ बाहर चला गया। थोड़ी देर तक उमानाथ वीणा को ध्यानपूर्वक देखता रहा, फिर इसके बाद उसने मुस्कराते हुए वीणा से पूछा, "आपसे प्रभानाथ की कितने दिन की दोस्ती है?"

उमानाथ के इस प्रश्न से, और उससे भी अधिक उमानाथ की मुस्कराहट से वीणा तिलमिला उठी। शुष्क स्वर में उसने कहा, "पता नहीं कि मुझसे यह प्रश्न करने का आपको कितना अधिकार है! आप सभ्य समाज के आदमी हैं, देश-विदेश घूमे हैं, आपको साधारण शिष्टाचार का तो पता होना चाहिए।"

"अरे, आप तो नाराज हो गयीं", उमानाथ को अपनी गलती महसूस हुई या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह कहता गया, "देखिए, मेरी बातों पर बुरा मानकर आप गलती करेंगी, क्योंकि जिसे आप सब लोग शिष्टाचार कहते हैं, उस पर मैं जरा भी विश्वास नहीं करता—मैं क्यों, हम आजकल के प्रगतिशील लोग जरा भी विश्वास नहीं करते। दुनिया के आदमियों ने अपना जीवन कितना कृत्रिम बना लिया है, इसी शिष्टाचार, इन्हीं झूठे और आडम्बरपूर्ण आचार के कारण!" उमानाथ ने हिल्डा की ओर संकेत किया, "देखिए, ये हैं मेरी पत्नी हिल्डा! आप कोई भी बात इनसे पूछिए, यह आपको बिना किसी हिचकिचाहट के स्पष्ट उत्तर देंगी और फिर मैंने तो आपसे एक बहुत सादा-सा प्रश्न किया था, मेरी मंशा जरा भी आपके हृदय को दुखाने की न थी।"

इस उत्तर से वीणा हतप्रभ-सी हो गयी, उसे अपने अकारण क्रोध पर क्रोध आ रहा था। उसने कहा, "प्रभानाथजी से मेरा क़रीब पन्द्रह-सोलह दिन का परिचय है।"

"इतने ही दिनों में इतना घनिष्ठ परिचय हो गया ? देख रहा हूँ हिन्दुस्तान बड़ी तेज़ी के साथ तरक़्क़ी कर रहा है—मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई।" इस बार वह अपनी पत्नी की ओर घूमा, "हिल्डा, सुना तुमने ? यहाँ की हालत इतनी बुरी नहीं जितनी मैं समझे हुए था।"

और उसी समय प्रभानाथ कमरे में आ गया। वीणा से उसने कहा, "रिक्शावाले को मैंने विदा कर दिया।"

□□

उमानाथ अनायास ही बहुत अधिक उद्विग्न हो उठा था। ऐसी उद्विग्नता शायद उसने पहले कभी अनुभव न की थी। लाख प्रयत्न करने पर भी उमानाथ को उस उद्विग्नता का कोई स्पष्ट कारण न मिल रहा था, पर फिर भी एक भयानक उथल-पुथल वह अपने अन्तर में अनुभव कर रहा था ! उमानाथ को उस समय कुछ ऐसा लग रहा था कि उसके चारों ओर जो कुछ है, वह सब-का-सब अनायास ही बदलनेवाला है—और वह यह भी अनुभव कर रहा था कि यह बदलना अच्छा न होगा, यह बदलना विनाश होगा ! विनाश में निहित निर्माण भी है। उमानाथ को इस बात पर विश्वास था, लेकिन निर्माण की कोई स्पष्ट रूपरेखा उसके सामने न होने के कारण उसका निर्माण के प्रति विश्वास उसके अन्दर वाले विनाश के प्रति भय पर विजय न पा सकता था।

उमानाथ उठ खड़ा हुआ—मर्माहत-सा ! उसने मन-ही-मन कहा, "समझ में नहीं आता कि क्या होनेवाला है।" और वह ज़ोर से अपने अन्दरवाली विवशता पर ही हँस पड़ा। कमरे से निकलकर वह बरामदे में बैठ गया। लेकिन बरामदे में भी उसकी विचार-धारा ने साथ न छोड़ा और उसने उस समय दयानाथ और मार्कण्डेय के आगमन को मन-ही-मन धन्यवाद दिया।

मार्कण्डेय को उमानाथ के साथ छोड़कर दयानाथ अन्दर चला गया। थोड़ी देर तक दोनों चुप बैठे रहे, इसके बाद मार्कण्डेय ने कहा, "देख रहे हो उमा ! ज़रा-सी बात पर दयानाथ इतने अधिक कटु हो गए हैं !"

यह स्पष्ट था कि दयानाथ के अन्दर एक प्रकार की कटुता पैदा हो रही थी, और इस पर उमानाथ को आश्चर्य हो रहा था। दयानाथ—त्याग और बलिदान का एक-निष्ठ उपासक—एक ज़रा-सी बात से उसके अन्दर कटुता क्यों पैदा हो रही है, उमानाथ की समझ में न आ रहा था। उमानाथ ने केवल इतना कहा, "मेरी समझ में कुछ नहीं आ रहा है मार्कण्डेय भइया ! बड़के भइया अपनी ही हठधर्मी के कारण इस चुनाव में हारे हैं, ऐसी हालत में वे दूसरों को दोष कैसे दे सकते हैं !"

"एक तरह से तुम्हारी बात ठीक है, उमा, लेकिन एक दूसरा पहलू भी है—और अगर उस पहलू पर ग़ौर करोगे तो दयानाथ के अन्दरवाली कटुता तुम्हें स्वाभाविक लगेगी।"

उमानाथ ने मार्कण्डेय की बात का कोई उत्तर नहीं दिया, वह सोचने लगा। इतने में उसे सुनाई पड़ा, "कहो कामरेड, क्या सोच रहे हो ?"

उमानाथ ने चौंककर देखा, ब्रह्मदत्त खड़ा मुस्करा रहा था। उमानाथ ने कहा,

"कुछ नहीं, यों ही इस अजीब-ग़रीब दुनिया की अजीब-ग़रीब रफ्तार पर सोच रहा था !"

ब्रह्मदत्त खिलखिलाकर हँस पड़ा, "कामरेड ! कुछ सोचना-विचारना—यह सब बेकार है। कुछ भी नहीं समझ में आ सकता—रत्ती भर नहीं !"

मार्कण्डेय ने कौतूहल के साथ ब्रह्मदत्त को देखा, फिर उसने मुस्कराते हुए कहा, "ब्रह्मदत्त ! तुम भी दार्शनिक बन रहे हो ? इस दर्शन से सँभलकर ही रहना।"

ब्रह्मदत्त मार्कण्डेय की बात के व्यंग को पी गया, उसने उसकी बात का कोई उत्तर नहीं दिया। बैठते हुए ब्रह्मदत्त ने उमानाथ से कहा, "दयानाथ जी के क्या हाल हैं ? अपनी पराजय पर उन्हें एक धक्का-सा लगा होगा ? वे कल्पना भी नहीं करते थे कि पराजित होंगे।"

उमानाथ ने बात टालने की कोशिश की, "छोड़ो भी उस बात को ब्रह्मदत्त, जो कुछ हो चुका, उस पर बात करना बेकार है !"

लेकिन शायद ब्रह्मदत्त अपनी कैफ़ियत देने पर तुल गया था, "नहीं कामरेड ! उस बात को स्पष्ट न करना मेरे हित में न होगा, क्योंकि प्रश्न तुम्हारे बड़े भाई का है, और इसलिए दयानाथ जी का मामला मेरे लिए किसी हद तक व्यक्तिगत प्रश्न हो जाता है। लेकिन कामरेड, मैंने बहुतेरी कोशिश की कि दयानाथ जी झुकें, अपनी अहम्मन्यता छोड़कर वह एक क्षण के लिए मेरे स्तर पर आवें, मुझसे बराबरी से मिलें ! और मैं असफल हुआ, यह मार्कण्डेय जी अच्छी तरह जानते हैं। मनुष्यता का कल्याण करने का दम भरनेवाला कांग्रेस का एकनिष्ठ प्रतिनिधि वर्गवाद का कितना बड़ा पुजारी हो सकता है, यह मैंने दयानाथ जी में स्पष्ट देखा। और मैं कहता हूँ कामरेड, इस पर मुझे ग्लानि हुई; ग्लानि ही नहीं, एक प्रकार का भयानक विद्रोह मेरे अन्तःकरण में भर गया !"

उमानाथ ब्रह्मदत्त की भावना को समझता था, वह भी तो वर्गवाद का भयानक शत्रु था ! लेकिन न उमानाथ और न ब्रह्मदत्त दयानाथ का ठीक-ठीक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कर सके थे। उमानाथ ने कहा, "मुझे तुमसे कोई शिकायत नहीं, बड़के भइया भी वर्गवाद के उतने ही बड़े प्रतिनिधि हैं, जितना कोई पूँजीपति हो सकता है।"

इस पर मार्कण्डेय ने कहा, "उमा। एक बात तुम्हारी ठीक है, दूसरी बात में तुम ग़लती कर गए ! दयानाथ वर्गवाद में विश्वास करते हैं, यह मैं मानता हूँ; लेकिन उनका वर्गवाद पूँजीवाद का वर्गवाद नहीं है, वह दूसरा ही वर्गवाद है।"

"यह दूसरा वर्गवाद कहाँ से निकल आया—ज़रा मैं भी सुनूं।" ब्रह्मदत्त ने पूछा।

"लेकिन तुम बुरा न मान जाना !" मार्कण्डेय ने मुस्कराते हुए कहा।

"आप इसकी चिन्ता न करें—मैं जानता हूँ कि आप लोग इस बात की ज़रा भी परवाह नहीं करते कि दूसरा आदमी आपकी बात पर बुरा मानता है या उसे पसन्द करता है। आप लोग सत्य के उपासक हैं न !" और ब्रह्मदत्त अपने मज़ाक पर खुद हँस पड़ा।

मार्कण्डेय ने कहा, "तो फिर सुनो ब्रह्मदत्त, दुनिया में एक चीज़ होती है संस्कृति; नेकी और ईमानदारी, शील और विनय। आज इन मानवीय गुणों का उपासक एक नया वर्ग पैदा हो रहा है, और दयानाथ उस वर्ग के आदमी हैं।"

इस बात से ब्रह्मदत्त तिलमिला उठा, "नेकी, ईमानदारी, संस्कृति, शील और

विनय ! समाज के भयानक भुलावे ! असत्य की नींव पर बनाये गये वे मंदिर, जिनमें पूँजीपति उत्पीड़ित जन-समुदाय को छल-कपट से फँसाकर अपना काम निकालता है।"

लेकिन उमानाथ ने पूछा, "मार्कण्डेय भइया ! आपने जो कुछ कहा, वह बाहरी रूप से ठीक दिखता है, लेकिन उसका एक आन्तरिक रूप है, जिसे आप नहीं देख पाते ! यह संस्कृति, यह विनय, यह शील, यह नेकी, यह ईमानदारी !—ये सब-के-सब समर्थता से उत्पन्न हैं, उस समर्थता से, जिसे दूसरों को दबाकर, दूसरों को उत्पीड़ित करके, दूसरों को असमर्थ बनाकर कुछ इन-गिने लोगों ने हासिल कर लिया है !"

"यही ग़लती कर रहे हो उमा !" मार्कण्डेय ने उत्तर दिया, "ये सब चीजें, जिन्हें तुम समर्थ कहते हो उनके पास नहीं हैं, यद्यपि इन्हीं चीजों को मैं पूर्ण समर्थता समझता हूँ। तुमने अपने समर्थ पूँजीपति को तो देखा ही है। वह न नेक है, न ईमानदार है ! उसमें न शील है, न विनय है। सांस्कृतिक दृष्टि से वह बहुत नीचे गिरा हुआ है। यह नेकी, ईमानदारी की संस्कृति, मनुष्य के अन्दरवाली प्रेम, दया तथा त्याग की भावनाओं पर अवलम्बित है, स्वयम् अपने को मिटाने की भावना द्वारा जनित है। लेकिन शायद इसे तुम न समझ सकोगे, क्योंकि तुम्हारी संस्कृति हिन्दुस्तानी नहीं है, तुम्हारी संस्कृति विदेशी है !"

ब्रह्मदत्त बोल उठा, "मार्कण्डेय जी ! मैंने माना कि उमानाथ जी विलायत हो आए हैं और उन पर विदेशी संस्कृति का प्रभाव पड़ा है, लेकिन मैं तो ठेठ हिन्दुस्तानी हूँ !"

मार्कण्डेय मुस्कराया, "हाँ ! तुम हिन्दुस्तानी ज़रूर हो, क्योंकि तुम्हारा जन्म हिन्दुस्तान में हुआ है, और तुम्हारी शिक्षा-दीक्षा भी हिन्दुस्तान में ही हुई है। लेकिन ब्रह्मदत्त ! हिन्दुस्तान में जो शिक्षा मिल रही है, वह विदेशी है। आज एक सौ वर्ष से हम हिन्दुस्तानी विदेशी विचारधारा का अध्ययन कर रहे हैं, और अब अपने को उस विदेशी विचारधारा में पूरी तौर से खो चुके हैं। धन और उत्पीड़न को सत्य मानने वाली आज की हिंसात्मक विचारधारा हिन्दुस्तान की नहीं है। आज तुम अपनी दया, त्याग, ममता-भावना की संस्कृति को छोड़कर जीवन के कुरूप और हिंसात्मक संघर्ष को अपना सत्य मान बैठे हो।"

मार्कण्डेय ने जो कुछ कहा था, उस पर ब्रह्मदत्त थोड़ी देर तक सोचता रहा; फिर उसने कहा, "जो बात आपने कही है मार्कण्डेय जी, मैं उससे इनकार नहीं करता और न करना चाहता हूँ ! वास्तव में मैं अपनी संस्कृति और अपनी सभ्यता का विरोधी हूँ, क्योंकि मैं जानता हूँ कि हमारी संस्कृति और सभ्यता ग़लत है ! इस सभ्यता और संस्कृति के कारण ही हमें गुलामी भोगनी पड़ रही है—इन्हीं के कारण हम पशुओं से भी गए-बीते हैं।"

मार्कण्डेय ने कहा, "ब्रह्मदत्त, मैं स्वीकार करता हूँ कि हम अपनी ही कमजोरियों और बुराइयों के कारण गुलाम बने हैं, लेकिन इसके ये अर्थ नहीं कि हमारा सांस्कृतिक और बौद्धिक विकास ही ग़लत है। सही सिद्धान्तों को जीवन पर लागू करने का हमारा तरीका ग़लत हो गया, यही हमारी सबसे बड़ी कमज़ोरी रही !" विश्वम्भरदयाल ने अपनी कार निकलवाई और वीणा को साथ बिठला कर वे कैम्प-जेल में पहुँचे। उन्होंने प्रमानाथ को बुलवाया।

□□

प्रभानाथ की सारी शक्तियाँ उस दिन सुबह से ही जवाब देने लगी थीं। अपनी समग्र शक्तियों को वह दो दिनों तक कैम्प-जेल की यन्त्रणाओं पर विजय पाने में लगाए रहा था—और अब उसकी शक्तियाँ क्षीण होने लगी थीं। प्रभानाथ के चारों ओर निराशा थी। सुबह से कई बार उसने सोचा था कि वह सब कुछ बतलाकर इन यन्त्र-णाओं से छुटकारा पाए, लेकिन उन्हीं बची-खुची शक्तियों ने उसे ऐसा करने से प्रत्येक बार रोक दिया। पर प्रभानाथ जानता था कि अधिक समय तक उसकी शक्तियाँ उसका साथ न दे सकेंगी।

जिस समय प्रभानाथ वीणा के सामने आया, उसके पैर काँप रहे थे, उसके चेहरे पर पीलापन था। वीणा को देखते ही वह कह उठा, "तुम वीणा!"

वीणा ने आँख से इशारा किया, और प्रभानाथ समझ गया कि उसे अधिक बात नहीं करनी है। उसे केवल वीणा की बात सुननी है।

वीणा ने प्रभानाथ के पैर छुए, उसके बाद उसने रोनी-सी सूरत बनाकर कहा, "मैंने सुना है कि तुमने अपने साथियों के नाम बताने से इन्कार कर दिया है। ददुआ की बात तुमने मान ली, लेकिन तुमने मेरा ज़रा भी ध्यान नहीं किया। मैं तुम्हारे बिना कैसे जीवित रहूँगी! बोलो!" और वीणा की हिचकियाँ बँध गईं।

स्त्री कितना बड़ा अभिनय कर सकती है, यह प्रभानाथ ने सोचा तक न था। वीणा कहती जा रही थी, "तुमने मुझे विधवा बनाने के लिए ही मुझसे विवाह किया था क्या? क्या तुम्हारा मेरे प्रति कोई कर्तव्य नहीं है?"

प्रभानाथ ने आश्चर्य से वीणा की बात सुनी। उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि वीणा यह विवाह वाली बात कहाँ से निकाल लाई! उसने कहा, "तो तुम क्या चाहती हो?"

हिचकियाँ लेते हुए उसने कहा, "तुम्हारी यह कैसी हालत है? इन यन्त्रणाओं से तुम कब तक लड़ सकोगे? बोलो? मैं तुमसे कहने आई हूँ कि तुम अपने साथियों के नाम बतला दो।"

प्रभानाथ आसमान से गिरा। "अपने साथियों के नाम बतला दूँ—असंभव! जाओ मेरे सामने से—जाओ!'

लेकिन वीणा ने प्रभानाथ का हाथ पकड़ लिया। उसने प्रभानाथ की उँगली अपनी हाथवाली अँगूठी पर लगा ली, "मैं जाने के लिए नहीं आई हूँ, मैं इस यन्त्रणा से तुम्हें मुक्त करने आई हूँ!"···और वीणा चुप हो गई। इस बीच में उसने अपनी अँगूठी प्रभानाथ को दे दी थी।

प्रभानाथ उस अँगूठी के स्पर्श से वीणा का मतलब समझ गया। तनिक संयत होकर उसने कहा, "मुझे समय दो।"

"नहीं, समय की बात नहीं—तुम्हें अपने साथियों के नाम बतलाने ही होंगे, अपने लिए नहीं, मेरे लिए!'

"अच्छी बात है, लेकिन तुम मेरे सामने से जाओ—जाओ!" और प्रभानाथ विश्वम्भरदयाल की ओर घूमा, "मुझे यह न मालूम था कि आप मेरे खिलाफ़ इस अस्त्र का प्रयोग कीजिएगा—मैं हारा!" और प्रभानाथ वहाँ से घूमकर चल दिया।

विश्वम्भरदयाल को ताज्जुब हो रहा था कि कितनी आसानी से उसका काम हो गया। अपनी विजय की प्रसन्नता के भावों में उसने अपने को इतना अधिक खो

दिया था कि न वह वीणा के मुख के भावों का अध्ययन कर सका और न प्रभानाथ के मुख के भावों का। उसने मुस्कराते हुए वीणा से कहा, "चलिए! जहाँ कहिए, मैं आपको पहुँचा दूं।"

वीणा उसके साथ कार पर बैठ गई, "आपके बंगले के सामने मेरा ताँगा खड़ा है, वहीं चलिए; वहाँ से मैं चली जाऊँगी!"

विश्वम्भरदयाल के साथ वीणा उसके बँगले पर लौट आई। वहाँ कोई ताँगा नहीं था।

"मालूम होता है, मेरा इन्तजार करते-करते ताँगावाला चला गया। आप अपने नौकर से कोई ताँगा मँगवा दीजिये, बड़ी कृपा होगी।"

विश्वम्भरदयाल इस समय काफी उदार हो रहे थे, "आप मेरी कार ले जाइए न!"

"नहीं, आप ताँगा मँगवा दीजिए।"

विश्वम्भरदयाल ने कार के ड्राइवर को ताँगा लाने का आदेश देकर वीणा से कहा, "अच्छी बात है, आप तब तक ड्राइंग-रूम में बैठिए।"

विश्वम्भरदयाल यह कह कर अन्दर चला गया। जब वह बाहर आया उस समय वीणा चुपचाप बैठी थी। सामने वाली कुर्सी पर बैठते हुए विश्वम्भरदयाल ने कहा, "मैंने नौकर से चाय लाने को कह दिया है, आप चाय पीकर जाइएगा! ...अरे..." यह कहते-कहते उसका चेहरा पीला पड़ गया, वह भय से काँप उठा।

उसने देखा कि वीणा पिस्तौल ताने उसके सामने खड़ी है! वीणा ने कहा, "तुम समझते हो कि तुम जीते—शैतान कहीं के—मैं कहती हूँ कि तुम हारे। मैंने प्रभानाथ को पोटेशियम साइनाइड दे दिया है। मैं प्रभानाथ को मारकर खुद मरने के लिए निकली थी। लेकिन खुद मरने से पहले तुम्हें मारने का मुझे मौका मिल गया..." और यह कहते हुए उसने पिस्तौल का घोड़ा दाब दिया, गोली विश्वम्भरदयाल के मत्थे में घुस गई। वीणा लगातार गोलियाँ चलाती गई—और जब उसकी पिस्तौल में एक गोली बाकी बची, उसने वह गोली अपने मत्थे में मार ली।

—'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' से

पैंतीसवीं वर्षगाँठ पर

मैं सोच रहा हूँ मौन
सामने है प्रात: की प्रथम किरण ।

आगे है अनजाना भविष्य,
पीछे है भूला-सा अतीत ।
दिन आए, फिर रातें आईं,
पैंतीस वर्ष यों चुके बीत ।

पैंतीस वर्ष निर्बलता के,
पैंतीस वर्ष असफलता के,
पैंतीस वर्ष तिल तिल गिरने
की इस उद्भ्रान्त विवशता के,

पैंतीस वर्ष का ज्ञान विशद
जीवन का केवल एक गीत ।

मैं सोच रहा जीवन गति है,
फिर क्यों हैं मेरे शिथिल चरण ?
मैं सोच रहा हूँ मौन,
सामने है प्रात: की प्रथम किरण ।
मैं सोच रहा हूँ मौन,
सामने पड़ा हुआ जग का आँगन ।

हो रहा निपट अनजानों में
कुछ अनजाना सा मेल यहाँ,
पहचान है पल का खेल यहाँ ।

यह मेल और यह खेल, अरे
है यह सब क्यों, है यह सब क्या ?
क्यों जागृति को कसकन का युग
बनता पल भर का सुख सपना ?

वह भरा हुआ मदहोशी से
पुलकित दो प्राणों का बन्धन,
वह नव पुलकन, वह प्रेम मिलन,
कोमल सिहरन का आलिंगन,

क्यों एक निमिष में बन जाता
मानस का असह करुण क्रन्दन ?
थी मिली मुझे क्यों वह ममता ?

मेरी छोटी-सी अभिलाषा पर
था उसका जीवन अर्पित
उसकी श्रद्धा पर, पूजा पर
मैं रह जाता था मौन चकित।

वह त्याग भरा अनुराग लिये,
जीवन का कोमल भाग लिये,
आई थी मानस के हिम की
जड़ता में मधु की आग लिये।

मुझ में निज बल भर देती थी,
जब हो जाते थे प्राण थकित।

मेरे सुख में था उसका सुख :
मेरे दुख में था उसका दुख :

मेरे कानों में गूंज रहा
है उसका सकरुण कातर स्वर
"बिछुड़न की ही आशंका से
प्रिय, उठते मेरे प्राण सिहर।"

फिर पत्थर बनकर मैंने ही
उसका तिल तिल मिटना देखा,
रख चुका चिता पर हूँ उसको
जिसने था मुझको प्यार किया।
करुणामयि तुम अयि देवि उमा।
मैं पूछ रहा तुम कौन ? कहाँ ?
तुम क्यों आईं ? क्यों चली गईं ?
क्या फिर से भी मिलना होगा ?
क्या हम पहचान सकेंगे भी ?

मैंने तो देखा था शरीर,
वह तो कब का बन राख चुका ?
आत्मा ? क्या पहचानूंगा जब
निज को न स्वयं पहचान सका ?

मैं पूछ रहा मेरे उर पर
क्यों भार बन गई वह ममता ?

इन अपलक आँखों के आगे
है एक अजब सा सूनापन।
मैं सोच रहा हूँ मौन
सामने पड़ा हुआ जग का अगाँन।
मैं सोच रहा हूँ मौन
सामने है भूला सा अपनापन।

मैं क्यों आया हूँ और यहाँ
पर है मुझको क्या क्या करना ?
जीने के प्रति पग पर कितनों का
देख रहा हूँ मैं मरना।

मेरे सुख वैभव को घेरे
हैं कितने दलितों की आहें।

मैं देख रहा प्रत्येक हँसी पर
अनगिनती साँसें भरना।

मैं पूछ रहा हूँ अपने से,
मैंने कब सोचा भला बुरा ?
क्यों अहम्मन्यता से कलुषित
है यह मेरी साहित्य कला ?

जो थे प्राणों से प्रिय मुझको
वे छोड़ चले मुझको रोता।
फिर व्यर्थ मोह का यह बंधन,
फिर व्यर्थ यहाँ सारी ममता,
पथभ्रष्ट मुझे कर रही यहाँ
है क्यों यह मेरी कायरता ?

सुनकर सबलों की हुंकारें,
सुनकर निबलों की चीत्कारें,
सुनकर पशुता की ललकारें,
क्यों मौन विवश है मानवता ?

है आज हृदय में कसक रहे
ये मेरे पैरों के बन्धन।
मैं सोच रहा हूँ मौन,
सामने है भूला सा अपनापन।

—'मानव' से

कर्ण

कर्ण के प्रति मैंने एक अजीब तरह की सहानुभूति का अनुभव किया है। उसका समस्त जीवन कटुता और निराशा का जीवन रहा है। उसे दुनिया में कहीं भी प्रेम नहीं मिला। जारज पुत्र होने के कारण उसे पिता और माता की ममता से वंचित रहना पड़ा, सूतपुत्र कहलाने के कारण उसे अविवाहित रहना पड़ा। समाज द्वारा वह अपमानित और लांछित था। और इस कटुता, घृणा एवं निराशा के वातावरण में भी कर्ण कहीं नीचे नहीं गिरा। एक अडिग साधक की भाँति वह अपने धर्म पर रत रहा।

द्रौपदी को प्राप्त करनेवाले पाण्डवों के प्रति उसका आक्रोश स्वाभाविक ही था, और इसलिए यह भी स्वाभाविक था कि उसकी मित्रता कुरुवंश के सुयोधन से होती। यद्यपि सुयोधन और कर्ण के चरित्र में बहुत अन्तर था, और स्वभाव से कर्ण सुयोधन की दुराग्रह से भरी नीति का समर्थन नहीं कर सकता था, फिर भी जहाँ तक पाण्डवों के विरोध का प्रश्न था, कर्ण सुयोधन के साथ था। सुयोधन कर्ण की शक्ति और क्षमता से भलीभाँति परिचित था और इसलिए उसने कर्ण को सामाजिक मान एवं आदर भी प्रदान किया। कर्ण सुयोधन का अनुगृहीत था। जिस व्यक्ति को जीवन में हमेशा अपमान और तिरस्कार ही मिला हो, वह थोड़े-से सम्मान और सौहार्द्र से गल जाता है।

कर्ण भावना-प्रधान प्राणी था। महाभारत के युद्ध के पूर्व जिस समय कुन्ती कर्ण के पास जाती है और उसे उसके जीवन का वृत्तान्त बताकर उससे उसके भ्राताओं का प्राणदान माँगती है, उस समय कर्ण के सामने एक समस्या उपस्थित हो जाती है। यह जानकर कि वह कुन्ती का पुत्र है, कर्ण को प्रसन्नता नहीं होती; उसके अन्दर वाली कटुता और अधिक भयानक रूप धारण कर लेती है। उसे जीवन में सामाजिक अपमान ही नहीं मिला, उसको अपने माता-पिता की ममता से भी वंचित रहना पड़ा है। कुल, गोत्र, समाज—ये जितनी सामाजिक मर्यादाएँ हैं वे सब उसे वर्जित थीं, केवल इसलिए कि वह कुन्ती का जारज पुत्र था।

अपने जीवन के वृत्तान्त को सुनकर उसके अन्दर वाली घृणा कम नहीं होती, वह और भी बढ़ जाती है। जो जारज है उसके किसी व्यक्ति के साथ सामाजिक सम्बन्ध ही क्या हो सकते हैं? कुन्ती ने प्राणदान माँगा, कर्ण ने वह दान दिया, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वह किसी याचक को दान देता। उसने कुन्ती को माता के रूप में स्वीकार ही

नहीं किया। और प्राणदान देते समय भी उसके अन्दर जो कटुता और घृणा की भावना थी, वह मिटी नहीं। द्रौपदी और द्रौपदी के कारण अर्जुन के प्रति उसमें जो घोर घृणा की भावना है, वही तो कर्ण की प्रेरक शक्ति है। अर्जुन को नष्ट करने में वह दृढ़-संकल्प है। अर्जुन के प्राणों का दान उसने नहीं दिया। वह जो सुयोधन के साथ है वह केवल अर्जुन के कारण। सुयोधन अगर स्वयं पाण्डव-कुल से शत्रुता करता है तो कर्ण के बल पर।

कर्ण को अपने ऊपर असीम विश्वास है। बहुत महान् व्यक्तित्व है वह। लेकिन उस व्यक्तित्व में जहाँ दूसरों का कल्याण करने की सात्विकता है, वहीं दूसरों को नष्ट कर देने की प्रखरता भी है। वह जितना बड़ा दानी है उससे भी बड़ा योद्धा है। उसके जीवन में कहीं कोई ऐसी बात नहीं जो उस पर लांछन लगा सके। एकनिष्ठ, संयमी और धर्म पर रत। वह अपने को पूर्ण रूप से समर्थ और सक्षम मानता है, बिना हिचक के दान देना उसका धर्म है। अपने को समर्थ और सक्षम मानना आसान भले ही हो, लेकिन अपने को सक्षम और समर्थ स्थापित करना—अति कठिन काम है यह। अपनी समर्थता और सक्षमता को कर्ण जीवन में प्रतिपादित भी करता है।

जहाँ तक कौशल का प्रश्न है, महाभारत में उसका केवल एक ही समकक्षी है; यद्यपि, वह वास्तव में कर्ण का समकक्षी है, इस पर मुझे तो शक है। अर्जुन के पास कृष्ण का कौशल था, कर्ण के पास वह भी नहीं था। वह कवच और कुण्डल, जिनके कारण कर्ण को अमरता प्राप्त थी, कर्ण ने युद्ध के पहले इन्द्र को दान कर दिए थे। लेकिन इतने पर भी अर्जुन कर्ण को तब मार सका जब वह अस्त्र रखकर कीचड़ में फँसे हुए अपने रथ के चक्र को निकाल रहा था।

कर्ण उदार और दानी है। महाभारत के युद्ध के पहले इन्द्र को जो उसने अपनी अमरता दी थी उसकी तुलना दधीचि के अस्थिदान में ही मिलती है। बिना अर्जुन को नष्ट किए हुए और द्रौपदी से बदला चुकाए हुए उसका अपने कवच-कुंडल को दान कर देना अपने ऊपर अक्षय और असीम विश्वास को ही प्रकट करता है। युद्ध में वह अपने को अर्जुन से अधिक शक्तिशाली और कुशल समझता है।

उसकी पागलपन की सीमा तक पहुँचने वाली दान की प्रवृत्ति उसमें एक ऐसी अहम्मन्यता को प्रदर्शित करती है जो नियति को चुनौती देती है। कर्ण में सात्विकता की अपेक्षा राजस्विता अधिक है और वह राजस्विता अपमानित और लांछित होने के कारण क्रियाशील है जबकि उसकी सात्विकता उसके समस्त व्यक्तित्व को अपने में ढाँपे हुए भी निष्क्रिय है। इन्द्र को अमरता दान देकर उसने मनुष्यत्व को देवत्व से ऊँचा स्थापित किया, पर उसके उस दान में भी उसकी सात्विकता को राजस्विता ने दबा दिया था।

यह जानते हुए भी कि कर्ण की मृत्यु उसकी अहम्मन्यता के कारण हुई, मैं कर्ण की अहम्मन्यता पर मुग्ध हूँ। उसकी अहम्मन्यता में एक अकल्याणकारिणी प्रखरता और ओज है, लेकिन इसके लिए कर्ण को दोष देना अनुचित होगा। कर्ण वास्तव में सक्षम और समर्थ था, लेकिन समाज उसको वर्णहीन कहकर उसकी सक्षमता और समर्थता को मानने से इन्कार करता था। अपनी समर्थता और सक्षमता को कर्ण दिग्विजय करके और अपना अपमान करनेवालों को नष्ट करके स्थापित कर सकता था, लेकिन उसका यह काम धर्म-विरुद्ध होगा, वह यह अनुभव करता था। वह धर्म पालन करने में भी तो सक्षम और समर्थ था। कहीं भी उसने समाज के विरुद्ध आचरण नहीं किया। वह बहुत

बड़ा संयमी था, समाज और धर्म की एकरूपता को उसने स्वीकार कर लिया था।

कर्ण की दानशीलता उसके अन्दर वाले प्रेम, दया और करुणा से प्रेरित नहीं है, वह एक आहत अहम्मन्यता की प्रतिक्रिया है। पागल की भाँति वह दान देता है, सुपात्र और कुपात्र की उसे चिन्ता नहीं, परिणाम पर वह कभी नहीं सोचता। समाज द्वारा अपमानित और लांछित वह समाज को अपने व्यक्तित्व के भार से नत कर देना चाहता है। दान देने में वह 'ना' नहीं कहता। इन्द्र को अपना कवच और कुंडल दान देकर उसने यह स्थापित कर दिया कि वह सब कुछ कर सकता है।

पर प्रतिक्रियात्मक होने के कारण उसकी अहम्मन्यता में स्वाभाविक हिंसा और कटुता का समावेश है जो उचित-अनुचित, सद्-असद् का विवेक नहीं करती। यद्यपि कर्ण के व्यक्तित्व में कहीं भी क्षुद्रता नहीं दिखलाई देती, पर उस व्यक्तित्व की जो प्रेरक शक्ति है वह असत्य है, अशिव है और असुन्दर है।

समवेत गान : वीर औ' यशस्वी पूजा से है उठा कर्ण
ब्राह्मणगण आओ, तुम दान लो, दान लो।
आओ हे निर्बल, आओ हे अवलम्वहीन
अपने दुख दैन्य से यहाँ पर तुम त्राण लो।

कर्ण : कौन ? अभी तक खड़ी हुई तुम कौन हो ?
तुम वृद्धा, सम्भ्रान्त, आवरण के सहित,
शंकित-सी, कम्पितशरीर, भय से भरी,
माँगो अपना दान। अरे क्यों मौन हो ?

वाचक : वृद्धा का आवरण हट गया स्वयं ही
वह विवर्ण मुख, हिम-सा मुर्झाया हुआ।
भरे हुए थे नेत्र, और अपलक विसुध
देख रही थी वह तेजस्वी कर्ण को।

कर्ण : अरे राजमाता, समर्थ कुन्ती यहाँ
सूतपुत्र से लेने आई दान है
महासमर के पहले ! माँगो, देवि, तुम
प्रस्तुत है यह कर्ण। आज वह धन्य है।

कुन्ती : महासमर के पहले। यह माँ का हृदय
बरबस भर आया, हे दानी कर्ण, मैं
पाँच पांडवों के प्राणों की भीख ही
माँगूंगी, बस दे दो इतना दान तुम।

कर्ण : दे सकता हूँ दान देवि, उस वस्तु का
जो मेरी हो, या मुझको अधिकार हो ;
किन्तु पांडवों के प्राणों पर वश नहीं
ले लो मेरे प्राण, मुझे स्वीकार है।

कुन्ती : हाय, कहूँ मैं कैसे तुमसे सत्य वह ;

जो कुरूप है, जो कटु है, पर सत्य है
आज दाँव जब प्राणों के ही लग रहे
कहना होगा मुझे : कर्ण तुम पुत्र मम।
एक बार जब मैं कुमारिका थी, तभी
सहसा ही आसक्ति सूर्य के प्रति जगी ;
जिन्हें मन्त्रवल से था आमन्त्रित किया
सुनो कर्ण, तुम उन्हीं सूर्य के पुत्र हो।

लोकलाज से फिर तुमको तजना पड़ा
लज्जित हूँ मैं कर्ण, तुम्हारे सामने।
पर मैं माता तो हूँ, भ्राता हैं सकल
पांडव, जिनके आज बने हो शत्रु तुम।

क्यों पीले पड़ गए अचानक सहम कर ?
धीर वीर गम्भीर कर्ण तुम कुछ कहो।
माता आई है भिखारिणी बन यहाँ
माँग रही वह दान, पुत्र मत चुप रहो।

कर्ण : माता ! पावन ममता की संज्ञा परम
प्रार्थी हूँ तुम व्यंग न यों उसका करो,
मैं हूँ एक कलंक मात्र जो त्याज्य है
उसे पुत्र कहकर सम्बोधित मत करो।

अर्जुन, भीम, युधिष्ठिर की माता अरे,
पुत्रों का हो गया मोह इतना तुम्हें
निर्लज्जा-सी निज कलंक इस कर्ण को
कातर बन करने आई स्वीकार हो ?

अरे भिक्षुकों की माँ भिक्षा माँगने
दौड़ी आई हो तुम अपने पाप से।
भीम, युधिष्ठिर, नकुल और सहदेव के
प्राणों की मैं भिक्षा देता हूँ तुम्हें।

एक पार्थ—वह पार्थ कि जो है द्रौपदी
की हिंसा का मूर्तिमान् प्रतिबिम्ब-सा।
जिसके कारण यह नरमेध रचा गया,
उसे नष्ट करना ही मेरा धर्म है।

... ...

शल्य : हे कर्ण, आज मैं समझ सका हूँ तुमको,
यह धूमकेतु-सी ज्वलित तुम्हारी कटुता
स्वीकार करो मेरा शत-शत अभिनन्दन
कितनी महानता भरी तुम्हारी लघुता।

तुम क्षमा करो जो निज तीखे व्यंगों से
निस्तेज बनाना चाहा मैंने तुमको ;
ले लिया बचन था धर्मराज ने मुझ से
सारथी बनाओ तुम अपना यदि मुझको।

हतप्रभ मैं करता रहूँ निरन्तर तुमको
तुम चलो युद्ध में जब अर्जुन के सम्मुख ,
यों जान-बूझ अपमान महायोद्धा का
जो किया, इस समय है मुझको उसका दुख!

यह तेज तुम्हारा बढ़े कि जैसे बढ़ता
मध्याह्न काल का सूर्य गगन के ऊपर।
ले चलता हूँ मैं रथ अर्जुन के आगे
अपनी धन्वा पर सन्धानो अपने शर।

(दूर पर शंखनाद का स्वर। रथ चलने की आवाज़ !)

शल्य : अति दूर स्वर्ण के कलश, ध्वजा से मंडित
जो देख रहे हो, वह रथ है अर्जुन का ;
पीताम्बरधारी, मधुर हास से वेष्टित ,
हैं कृष्ण स्वयं कर रहे निदर्शन उसका।

वह कवच और कुंडल से शोभित अर्जुन ,
है देख रहा इस ओर कृष्ण इंगित-पर ,
आ गया समय वह कर्ण, प्रतीक्षा जिसकी
तुमने की है निज कटुता के जीवन भर।

अमरत्व प्राप्त था तुमको जिनके कारण
हैं कहाँ तुम्हारे कवच और वह कुंडल ?
क्या छीन ले गया है उनको भी तुमसे
छलना में पटु उस वासुदेव का कौशल ?

कर्ण : अमरत्व प्राप्त कर जो कि युद्ध में आये
वह कब समर्थ? कब वीर? अरे वह कायर ,
अवलम्ब मुझे है सदा धनुष का, शर का
मैं कवच और कुण्डल पर हूँ कब निर्भर !

अमरत्व ! सूर्य ने ममतावश निज सुत को
अपना प्रदान कर दिया कवच औ कुण्डल
इस भाँति दिया देवत्व उन्होंने मुझको
शंकित से होकर काँप उठे दिक्मंडल।

डरते थे मुझसे मानव हों या दानव
डरते थे मुझसे दैत्य, असुर औ किन्नर।

पर इन सबसे भी अधिक भीत था मुझसे
वह देवराज, वह इन्द्र, अरे वह कायर।

मैं कर्ण, चक्रवर्ती जो बन सकता था,
जो बन सकता था भोगी और विलासी ;
वह कामुक लम्पट इन्द्र, उसे चिन्ता थी
मैं धर्मवान क्यों, मैं क्यों बना उदासी ?

उसको मानव के धर्म कर्म से भय है,
भयभीत उसे कर देता पूजा-अर्चन।
निष्ठा से युत प्रत्येक यज्ञ से, तप से
चलदल-सा हिल पड़ता उसका इन्द्रासन।

अमरत्व और देवत्व—अरे वह धिक् है
हो महापातकी इन्द्र कि जिसका स्वामी।
छल, कपट, भोग, तृष्णा देवों के गुण हैं
मैं मनुज, सत्य का, संयम का अनुगामी।

वह इन्द्र भिखारी बनकर मेरे सम्मुख
आया था जब अमरत्व माँगने मेरा,
मैंने कर दी थी उसकी इच्छा पूरी
कब दान धर्म से मानव ने मुख फेरा ?

वह वज्र कि जिस पर गर्व इन्द्र को इतना,
मानव दधीचि के अस्थिदान से निर्मित।
देवत्व सड़ा दुर्गन्धयुक्त सरवर है,
मानवता तो है निर्झरिणी-सी जीवित।

सीधी-सच्ची बातें

हिटलर का मीनकाम्फ़ पढ़ने के बाद जगतप्रकाश को हिटलर से घृणा हो गई थी। मीनकाम्फ़ स्वयं में घृणा की धर्म-पुस्तक थी। जिस आर्य जाति की रामकिशोरसिंह ने दुहाई दी थी, उस आर्य जाति का रूप उस जगतप्रकाश ने गाँवों में देखा था, नगरों में देखा था, देश के राजनीतिक और सामाजिक जीवन में उसने देखा था। और हर जगह उसे अमानुषिक घृणा के दर्शन हुए थे। तभी उसे प्रोफ़ेसर शर्मा के ये शब्द याद हो आए, जो उन्होंने प्रायः दस महीने पहले उसकी गिरफ़्तारी के दो-तीन दिन पहले कहे थे, "जर्मनी की समस्त ताक़त उसके स्वाभिमान से युक्त घृणा की ताक़त है।"

जगतप्रकाश ने दबी ज़बान में कहा, "क्या हिटलर का यह दावा कि आर्य जाति होने के नाते जर्मन-राष्ट्र दुनिया का सबसे श्रेष्ठ और समर्थ राष्ट्र है, दुनिया की अन्य जातियों के प्रति घृणा का प्रदर्शन नहीं है? क्या जर्मन-राष्ट्र दुनिया की अन्य जातियों को आर्यों की गुलामी में नहीं बाँधना चाहता?"

आवेश में भरकर रामकिशोर ने उत्तर दिया, "दुनिया में सारे संघर्षों और समस्त अशान्ति का कारण है मत-विभिन्नता। जो सर्वश्रेष्ठ संस्कृति है, सत्य उसके साथ है। सत्य का रूप तो एक होता है। जर्मन जाति दुनिया को गुलाम नहीं बनाना चाहती, वह दुनिया की सभ्यता, संस्कृति और सम्पन्नता के विकास में दिशा-निर्देश करेगी, और यह उचित ही है।"

एकाएक जगतप्रकाश का मन जल उठा, शरीर जल उठा। उसने कठोर स्वर में कहा, "यह सद्भावना से भरा दिशा-निर्देश नहीं है, यह घृणा से भरा नर-संहार और हत्याकाण्ड है, जिसका प्रतिनिधित्व हिटलर कर रहा है। जर्मनी और ब्रिटेन का युद्ध आदर्शों को लेकर नहीं हो रहा है, वह तो दो शोषणकर्ता और उत्पीड़कों का युद्ध है, दोनों ही पक्ष पशुता की भावना से भरे हुए। दोनों ही पक्ष शोषण, गुलामी और उत्पीड़न के समर्थक। इन दोनों को एक-दूसरे से लड़कर नष्ट हो जाना चाहिए, इन दो दानवी शक्तियों के विनाश के बाद ही दुनिया में समाजवाद की स्थापना सम्भव है।"

"देखें कौन-कौन मिटता है, कौन-कौन बनता है।" रामकिशोरसिंह ने मुसकराते हुए कहा, "यह युद्ध अब करीब-करीब खतम ही समझो। फ्रान्स तो समाप्त हो ही चुका है, ब्रिटेन भी क़रीब-क़रीब टूट चुका है। हमारे देश को स्वतन्त्रता मिलेगी, मुझे ऐसा

लगता है।"

"या जर्मनी की और भी भयानक गुलामी में बँधना पड़ेगा इस देश को।" जगतप्रकाश बोला और वह उठ खड़ा हुआ, "दुनिया में इतना सब हो रहा है और हम लोग यहाँ इस निर्जन सुदूर नरक में डाल दिए गए हैं, विवश और असहायावस्था में।" जगतप्रकाश ने अपने सामने दूर तक फैले हुए भूखण्ड को देखा। एकाएक उसके मुख से निकल पड़ा, "क्या यहाँ से निकला नहीं जा सकता ?" यह काँटेदार तारों का जाल, ये राइफ़ल लिये हुए सैनिक, जो भागनेवाले को तत्काल गोली मार दें! आज क़रीब एक साल होने को आया! पता नहीं अपने लोग कहाँ हैं, क्या कर रहे हैं? जीवित-मृत्यु, यही संज्ञा दी जा सकती है इस स्थिति को। जीवन मौजूद है। इन शृंखलाओं और बन्धनों से जकड़ा हुआ यह जीवन—यह तो मृत्यु से भी भयानक है।"

रामकिशोर ने जगतप्रकाश का हाथ पकड़ लिया, "बैठो, कहाँ जाओगे? ब्रिटेन पराजित होगा, हम लोग यहाँ से छूटेंगे। तब तक हम दोनों को इन्तज़ार करना है।"

जगतप्रकाश फिर बैठ गया। उसके मुख पर एक व्यंग्यात्मक मुसकान आई, "हमारी सारी ज़िन्दगी ही इन्तज़ार की ज़िन्दगी है, लेकिन सच पूछा जाए तो यह इन्तज़ार मृत्युवत् है। जिस दिन हम पैदा होते हैं उसी दिन से हमारा मृत्यु का इन्तज़ार आरम्भ हो जाता है। यह मृत्यु अनिवार्यता है और यह अनिवार्यता सत्य है। ज़िन्दगी की सार्थकता इस अनिवार्यता की उपेक्षा करने में ही है, क्योंकि हमें कर्म करना है। कर्म यहाँ पर हमारे लिए वर्जित है। आज के कर्म में हम अपने को खो दें, इन्तज़ार की भावना को हम दूर कर दें, यही ज़िन्दगी का सीधा-सादा नुस्खा है। लेकिन यहाँ देवली कन्सेन्ट्रेशन कैम्प में यह सम्भव नहीं।"

रामकिशोर बोला, "शायद तुम ठीक कहते हो। बड़े पैमाने में कर्म के अभाव के कारण हम लोगों का अनशन, हम लोगों का रोटी के लिए, फलों के लिए, मक्खन के लिए संघर्ष ही आज हम लोगों के कर्म का भाग बन गया है। लेकिन इस संघर्ष में फल की भावना तो निहित है और यह फल भविष्य की चीज़ है। भविष्य की प्राप्ति के लिए वर्तमान का संघर्ष है।"

"लेकिन हमारे सोचे हुए भविष्य की प्राप्ति हमारे हाथ में नहीं है, मुझे तो ऐसा लगता है।" उदास भाव से जगतप्रकाश ने कहा, "इस विश्वयुद्ध का अन्त क्या होगा—कोई कुछ नहीं कह सकता। सवाल मेरे सामने एक और है, आखिर इस विश्व-युद्ध की आवश्यकता क्या थी ?" जगतप्रकाश कहते-कहते रुक गया, क्योंकि एक शोर इन दोनों को सुनाई दिया जो पास वाली बैरक से आ रहा था। दो क़ैदियों में झगड़ा हो गया था और ये दो क़ैदी दो राजनीतिक विचारधाराओं के थे। एक कम्यूनिस्ट था, दूसरा सुभाष बाबू का अनुयायी था। यह झगड़ा दो व्यक्तियों में सीमित न रहकर दो दलों का बन गया था। रामकिशोर के साथ जगतप्रकाश को घटना-स्थल पर जाना पड़ा। बड़ी मुश्किल से झगड़ा शान्त हुआ।

वहाँ से लौटते हुए रामकिशोर ने कहा, "अभी तुमने पूछा था कि इस विश्व-युद्ध की आवश्यकता क्या थी? और मैं तुमसे पूछ रहा हूँ कि यहाँ इस झगड़े और मार-पीट की आवश्यकता क्या थी? हिटलर महान् है या स्टालिन महान् है, इससे हम लोगों को क्या मतलब? हम जो अंग्रेज़ों की गुलामी में पिस रहे हैं, हमें मतलब अंग्रेज़ों की पराजय से है। तुम स्तालिन के प्रशंसक हो, मैं हिटलर का प्रशंसक हूँ, इससे फ़र्क क्या

पड़ता है ? हम-तुम दोनों ही समान भाव से बन्दी हैं, ब्रिटिश सरकार दोनों को ही समान भाव से अपना दुश्मन समझती है । फिर भी हम लोगों में अक्सर ही आपस में झगड़ा हो जाया करता है । यह झगड़ा कभी-कभी मारपीट का रूप धारण कर लेता है । यह मारपीट अगर हमारे पास हथियार होते तो खून-खराबे में बदल सकती थी । इसका कारण सिर्फ़ यह है कि हम लोग दलों में विभक्त होकर काम करने के आदी हैं । व्यक्तिगत संघर्ष भावना का सहारा पाकर दलगत संघर्ष बन जाते हैं और खून-खराबे से भरे हुए ये दलगत संघर्ष ही युद्ध कहलाते हैं ।"

जगतप्रकाश कुछ देर सोचता रहा, फिर उसने लड़खड़ाते स्वर में कहा, 'लेकिन यह विश्वयुद्ध तो राष्ट्रों के बीच हो रहा है, दलों के बीच नहीं । पूरा-का-पूरा जर्मनी एक-मन और एक-प्राण होकर यह युद्ध कर रहा है ।"

राजकिशोर के पास उत्तर मौजूद था, "मैं बतलाता हूँ । आज देश-के-देश दलों में विभक्त हो चुके हैं । तुम्हें याद है हिटलर के अभ्युदय का क्रम । हिटलर से पहले जर्मनी की जनता न जाने कितने दलों में बँटी थी । वहाँ कम्यूनिस्ट थे, वहाँ यहूदी थे, वहाँ कमज़ोर क़िस्म के राष्ट्रवादी थे, वहाँ स्वाभिमानी और अपमानित देश-प्रेमी थे । राष्ट्रवाद के सबसे बड़े दुश्मन थे यहूदी और कम्यूनिस्ट । यहूदियों का कोई देश नहीं, कोई राष्ट्र नहीं, वह उखड़ा हुआ प्राणी है, वह दुनिया-भर में फैला हुआ है, और उसकी सत्ता उसके धर्म की है, उसके देश की नहीं है । लेकिन यह यहूदी शोषित नहीं है, यह यहूदी शोषक है, क्योंकि यह पूँजीवाद का सबसे बड़ा प्रतीक बन गया है । इस यहूदी को दुनिया में पूँजीवाद का दानव कहा जा सकता है । पिछले महायुद्ध में जर्मनी की जो पराजय हुई उससे जर्मनी में रहने वाले यहूदी को कोई ग्लानि नहीं हुई, उसका कोई नुकसान नहीं हुआ । वह तो और भी अधिक अमीर हो गया । हिटलर ने राष्ट्रवाद को मज़बूत करने के लिए यहूदियों के विरुद्ध अभियान आरम्भ कर दिया । इसके बाद आता है कम्यूनिस्ट का स्थान । कम्यूनिज़्म का जन्म ही पिछले महायुद्ध में जर्मनी के हाथ रूस की पराजय के फलस्वरूप हुआ । लेकिन यह कम्यूनिज़्म अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की चीज़ है । कम्यूनिज़्म राष्ट्रवाद का सबसे प्रबल विरोधी तत्त्व है । इसलिए हिटलर ने कम्यूनिज़्म के विरुद्ध अभियान चलाया । परिणामस्वरूप जर्मनी में उग्र राष्ट्रवाद स्थापित हो गया, यहूदियों और कम्यूनिस्टों की शक्तियाँ क्षीण होते-होते मिट गईं । और आज जर्मनी राष्ट्रवादियों का सबसे शक्तिशाली और बड़ा सामूहिक दल है । एक ओर वह अन्तर्राष्ट्रीय पूँजीवाद को, जिसकी प्रतीक रूप यहूदी जाति है, चुनौती दे रहा है, दूसरी ओर वह अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद को, जिसका प्रतीक रूस है, चुनौती दे रहा है ।"

"लेकिन रूस से तो जर्मनी का युद्ध नहीं हो रहा है ।" जगतप्रकाश बोला, "जर्मनी ने रूस से मित्रता कर रखी है ।"

"वह इसलिए कि पहले उसे फ्रांस और ब्रिटेन को पराजित करना है, क्योंकि पिछले महायुद्ध में उसे फ्रांस और ब्रिटेन ने पराजित और अपमानित किया था । ये दोनों देश पूँजीवाद का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं, यद्यपि यह पूँजीवाद सुसंगठित नहीं है, सुस्पष्ट नहीं है । हम यह नहीं भूल सकते कि पूँजीवाद उत्पीड़न और शोषण पर क़ायम है । आज बढ़ती हुई चेतना के युग में कोई भी राष्ट्र पूँजीवाद का आधार बनाकर खुल्लमखुल्ला शक्ति प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि शक्ति जनता के हाथ में है जो शोषित है, उत्पीड़ित है । इसलिए फ्रांस और ब्रिटेन—इन दोनों देशों में पूँजीवाद को राष्ट्रवाद का जामा पहनना

पड़ा है। यही फ्रांस और ब्रिटेन की कमजोरी है, क्योंकि इन दोनों देशों में पूंजीवाद के विरोधी तत्व मौजूद हैं। फ्रांस और ब्रिटेन में राष्ट्रवाद का पागलपन नहीं है।"

जगतप्रकाश का मन अनायास ही हलका हो गया। राष्ट्रवाद एक पागलपन है, पूंजीवाद मक्कारी और शैतानियत है। केवल समाजवाद में वह क्षमता है जो दुनिया को एक बना सके, उस की समस्या को हल करके विश्वशान्ति स्थापित कर सके। जगतप्रकाश की धारणा रामकिशोर सिंह के कथन से पुष्टि हो गई। उसने गम्भीरतापूर्वक कहा, "ठीक कह रहे हो, ब्रिटेन और फ्रांस के पूंजीवाद को नष्ट होना ही चाहिए, क्योंकि यह पूंजीवाद साम्राज्य का रूप धारण कर चुका है। कितनी आसानी से कुछ दिनों के अन्दर ही फ्रांस पराजित हो गया, यह फ्रांस की पराजय उसके अन्दरवाले पूंजीवाद के खोखलेपन को ही प्रकट करती है। अकेला ब्रिटेन बचा है और वह भी इसलिए कि ब्रिटेन के चारों ओर समुद्र है, और ब्रिटेन हमेशा से अपनी नौशक्ति के प्रति सजग रहा है। और जब तक ब्रिटेन पूरी तौर से पराजित नहीं होगा तब तक यह युद्ध चलेगा।"

□□

समय बीतता जा रहा था और जगतप्रकाश को जमील की कोई खबर नहीं मिल रही थी। यह जमील को क्या हो गया, वह कहाँ रह गया? युक्तप्रान्त में भी तो मुसलमानों की हत्याएँ हुई हैं, क्या जमील की भी तो हत्या नहीं कर दी गई? एक गहरी आशंका भरती जा रही थी जगतप्रकाश में। डेढ़ महीना हो गया था जमीला को गये हुए, और नवम्बर का पहला सप्ताह आ गया था। जगतप्रकाश सोच रहा था कि वह स्वयं महोना जाकर जमील का पता लगाए। लेकिन जगतप्रकाश को जाना नहीं पड़ा। पांच नवम्बर को जमील अपने परिवार के साथ बम्बई आ गया।

जमील को देखते ही जगतप्रकाश का मन खिल गया, "अरे जमील काका, कहाँ रह गए थे? तुमने जाने के बाद से मुझे अपनी कोई खबर ही नहीं दी। फ़िक्र हो रही थी कि न जाने तुम्हें क्या हो गया। कल-परसों मैं महोना जाने की सोच रहा था तुम्हें ढूंढ़ने के लिए।"

जमील के मुख पर एक तरह की थकावट से भरी उदासी थी, "पहले सामान रख लूं, फिर बतलाता हूं।"

अपने कमरे में अपने बीवी-बच्चों को ठहराकर और अपना असबाब रखवाकर जमील जगतप्रकाश के पास जाकर बैठ गया। कुछ रुककर उसने कहा, "क्या बतलाऊँ, मैं अपनी मुसीबतों में फंसा रहा। एक महीने से अपने बीवी-बच्चों के साथ भटक रहा हूं।"

"क्यों, ऐसी क्या बात आ पड़ी?"

"वही बताता हूं। हम लोग पाकिस्तान जा रहे हैं आज, अपने वतन से हमेशा के लिए नाता तोड़ रहे हैं हम लोग।"

जगतप्रकाश की चेतना पर जैसे बहुत बड़ा प्रहार हुआ हो, "पाकिस्तान जा रहे हो जमील काका! तुम पाकिस्तान जा रहे हो!"

करुण स्वर में जमील बोला, "हाँ, बरखुरदार। मैं मुसलमान हूं न। इस हिन्दुस्तान में अब मुसलमान महफ़ूज़ नहीं है और पाकिस्तान में हिन्दू महफ़ूज़

नहीं है। जिस नफ़रत की बुनियाद पर इन दो देशों की तामीर हुई है उसे नजरन्दाज़ नहीं किया जा सकता।"

"लेकिन महात्मा गांधी इस घृणा के वातावरण को दूर कर रहे हैं। हिन्दुस्तान धर्म-निरपेक्ष राज्य होगा, इसकी घोषणा महात्मा गांधी ने की है, जवाहरलाल नेहरू ने की है।"

जमील हँस पड़ा, एक फीकी हँसी, "महात्मा गांधी इस नफ़रत को दूर नहीं कर सकेंगे, किसी हालत में दूर नहीं कर सकेंगे। क़ुदरत का क़ानून है क्रिया-प्रतिक्रिया। पाकिस्तान में पनपने वाली नफ़रत का जवाब होगा हिन्दुस्तान में नफ़रत का पनपना। जो कुछ होगा वह मज़हबी नफ़रत की बुनियाद पर।" और फिर रुककर जमील ने कहा, "मैं हमेशा से जाती तौर से मज़हब के खिलाफ रहा हूँ, लेकिन मज़हब को मैं छोड़ भी तो नहीं सकता। मैं मुसलमान घर में पैदा हुआ हूँ, इस्लाम को अगर मैं छोड़ दूँ तो क्या हिन्दू बनूँ, वहाँ फिर मज़हब का झमेला। बदक़िस्मती तो यह है कि मज़हब को छोड़कर रहा भी तो नहीं जा सकता।"

जगतप्रकाश बोला, "जमील काका। थोड़े दिनों में यह मज़हब का पागलपन दूर हो जाएगा। इतना बड़ा क़दम मत उठाओ। तुम यहीं रहो।"

और जमील बोला, "काश कि मैं यहाँ रह सकता। लेकिन अब मुमकिन नहीं। मौजूदा हालात में मुसलमानों को हिन्दुओं का ग़ुलाम बनकर रहना पड़ेगा इस देश में। मैं नहीं चाहता था कि मौजूदा हालात में आज़ादी मिले, लेकिन होने वाला होकर रहता है। मुझे अब जाना ही है, पाकिस्तान में हिन्दुओं की गुलामी तो नहीं करनी पड़ेगी। वहाँ जाकर कम्यूनिस्ट पार्टी का काम करूँगा। इस हिन्दुस्तान में तो अब सरमाएदारी का शिकन्जा बुरी तरह कस जाएगा, यह सेठ, मिल-मालिक, बनिये, बरहमन—इन्हीं का बोलबाला रहेगा यहाँ, यहाँ कम्यूनिज़्म के क़ायम होने के चान्सेज़ करीब-करीब खत्म हो चुके हैं। इस्लाम कम्यूनिज़्म के ज़्यादा नज़दीक है।"

जगतप्रकाश ने दबी ज़बान में कहा, "मेरा ऐसा ख्याल है कि गांधीवाद कम्यूनिज़्म के ज़्यादा नज़दीक है।"

और जमील ने तत्काल उत्तर दिया, "अगर गांधीवाद नाम की कोई चीज़ है। लेकिन मैं गांधीवाद को महज़ कुछ दिनों का ताना-बाना समझता हूँ। खैर, छोड़ो भी। हुआ यह है कि युक्तप्रान्त में भी दंगे हुए हैं, क़त्ल हुए हैं, और आगे चलकर शायद और भी हों। गाँव पहुँचकर मैंने महसूस किया कि इस ज़मीन से हमारी जड़ें उखड़ गई हैं। वहाँ के मुसलमान या तो पाकिस्तान चले गए हैं या जा रहे हैं। अपने बीवी-बच्चों के साथ मैं भी दिल्ली गया, वहाँ होते हुए पाकिस्तान जाने के लिए। लेकिन दिल्ली और पंजाब से पाकिस्तान का रास्ता बन्द कर दिया गया है। अब सिर्फ बम्बई से जहाज़ पर जाया जा सकता है।"

जगतप्रकाश को लग रहा था कि उसकी चेतना लोप होती जा रही है, उसने अपने को सँभालने की कोशिश की। बड़े करुण स्वर में उसने कहा, "जमील काका। मैं तुमसे विनय करता हूँ कि तुम पाकिस्तान मत जाओ, मैं बिल्कुल अकेला रह जाऊँगा। एक तुम हो जिसे मैं अपना समझता हूँ, तुम भी मेरा साथ छोड़े जा रहे हो।"

जमील ने एक ठण्डी साँस ली, "कौन किसका है बरखुरदार। हिम्मत करो और जवाँमर्द बनो। यहाँ तक हम दोनों का साथ था, अब हम दोनों को जुदा होना है।

जुदाई का सदमा जितना तुम्हें है उससे कम मुझे नहीं है, क्योंकि मुझे तो अपने वतन से भी जुदा होना पड़ रहा है।"

पाँचवें दिन सुबह के समय जमील को जहाज़ पर चढ़ाकर जब जगतप्रकाश वापस लौटा, उसके पैर काँप रहे थे। अपने कमरे में वह मर्माहत-सा बैठ गया। नौकर से उसने कह दिया उसकी तबीयत ठीक नहीं है, वह खाना नहीं खाएगा।

और जगतप्रकाश सोच रहा था—जमील ने ग़लत कहा है, ग़लत समझा है। जमील के पास उसका आधार था उसकी पत्नी में, उसके बच्चों में। वतन किसका किसके साथ रहा है? अपने गाँव को छोड़कर वह बम्बई में रह रहा था, जिसे वह अपना वतन समझता था और कहता था, वहाँ से हज़ार मील की दूरी पर। शायद इतनी ही या फिर इससे भी कम दूरी होगी उसके गाँव की लाहौर से।

वह जमील, जिसे जगतप्रकाश अपना अभिन्न साथी समझता था, वह भी चला गया। वह जमील, जो साम्प्रदायिकता से इतना दूर था, जो इतना निस्पृह था, इस साम्प्रदायिकता की लपेट में आ गया। दिन-भर वह चुपचाप अपने कमरे में लेटा रहा। वह जाग रहा था या सो रहा था, इसका उसे पता नहीं था। वह होश में है या बेहोश है, इसका उसे ज्ञान नहीं था। उसका अतीत चलचित्र की भाँति उसके सामने आ रहा था। उसकी माता, उसके पिता, उसकी बहन। माता गई, पिता गए, बहन गई।

कितनी ममता थी, कितनी साध थी उसकी बहन में, और वह गोली खाकर मरी। कहाँ गए उसके पिता? कहाँ गई उसकी माता? कहाँ गई उसकी बहन? और तभी एकाएक शिवदुलारी का चित्र उसके आगे आ गया, वह शिवदुलारी कहाँ गई।

यमुना, सुषमा, मालती—एक के बाद एक यह चित्र उभर रहे थे जगतप्रकाश के सामने, असम्बद्ध, उलझे हुए सम्बोधन। और जब जगतप्रकाश की आँख खुली, शाम हो रही थी। वह उठा, उसने चाय पी और फिर वह घूमने निकल पड़ा। लेकिन उसे महसूस हो रहा था कि एक अजीब तरह की थकान भर गई है, उसके तन में, उसके मन में। उसके पैरों में जैसे ताक़त ही नहीं है। उसके चारों ओर जो कुछ था वह बेपहचाना हुआ—धुँधला-धुँधला। किसी प्रकार का हर्ष नहीं, उल्लास नहीं। हर तरफ़ निराशा की एक घुटन। रात के समय जब वह कुलसुम के यहाँ पहुँचा, जसवन्त ने उसे देखते ही कहा, "अरे! तुम्हारा चेहरा बड़ा उतरा हुआ है। क्या बात है?"

"कोई खास बात नहीं है।" वह बोला, "जमील और उसके बीवी-बच्चों को सुबह जब से जहाज़ पर चढ़ाकर लौटा हूँ तब से तबीयत बहुत उदास है।"

शर्मिष्ठा ने कहा, "वे लोग सही-सलामत यहाँ से चले गए, यह बड़ा अच्छा हुआ। हिन्दुस्तान में मुसलमानों को रहने का कोई अधिकार नहीं है।"

जगतप्रकाश शर्मिष्ठा की बात सुनकर चौंक उठा, "इतनी भयानक कटुता और आक्रोश!" और तभी कुलसुम ने शर्मिष्ठा के कन्धे पर हाथ रखकर कहा, "नहीं शर्मिष्ठा बेन। ऐसा नहीं कहते।"

शर्मिष्ठा की आँखों में आँसू आ गए, "मैं क्या करूँ? सब-कुछ लुट गया। मेरा तो लालाजी गए, ज़मीन-जायदाद गई, गहने-कपड़े गए। अब तो दूसरों के सहारे जीवित रहने की अवस्था आ गई।" और एकाएक शर्मिष्ठा की हिचकियाँ बँध गईं।

इसके बाद वहाँ का वातावरण अजीब तरह से विक्षुब्ध हो उठा। और मन में एक तरह की कड़ुवाहट लिए हुए जगतप्रकाश अपने घर वापस लौटा।

यह साम्प्रदायिकता ! घृणा का ज़हर ! यह देश के कोने-कोने में फैल गया है। जमील ने ठीक ही कहा था कि महात्मा गांधी इस नफ़रत के ज़हर को दूर नहीं कर सकेंगे। रोज़ शाम के समय महात्मा गांधी दिल्ली में अपनी प्रार्थना सभा में अपनी बातें कहते थे, रोज़ रात के समय रेडियो द्वारा महात्मा गांधी की बातों का प्रसारण होता था। लेकिन सब व्यर्थ। महात्मा गांधी के प्रवचनों में कभी-कभी एक खीझ भी दिखती थी, हिन्दुओं की भर्त्सना भी मिलती थी, उनकी साम्प्रदायिकता के लिए, और उस वातावरण में उन प्रवचनों का उलटा असर पड़ता था जनता पर। रास्ता चलते, ट्रामों पर, बसों पर लोग महात्मा गांधी को भला-बुरा कहते थे। नफ़रत के ज़हर से भरा जन-समुदाय प्रेम, दया और अहिंसा का पाठ सुनने को तैयार नहीं था।

कश्मीर में हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के बीच युद्ध आरम्भ हो चुका था, साम्प्रदायिक घृणा अपनी चरम सीमा पर थी।

और उधर भारत सरकार में प्रधान मंत्री जवाहरलाल नेहरू और उप-प्रधान मंत्री सरदार वल्लभभाई पटेल में मतभेद बढ़ते जा रहे थे। जवाहरलाल नेहरू का साथ महात्मा गांधी दे रहे थे, कांग्रेस का संगठन सरदार वल्लभभाई पटेल के हाथ में था। कश्मीर में शीतकाल के कारण युद्ध की गति धीमी पड़ गई थी, लेकिन पाकिस्तान और हिन्दुस्तान में आपसी युद्ध की धमकियाँ चल रही थीं।

महात्मा गांधी नफ़रत के इस ज़हर को दूर करने के लिए कृतसंकल्प थे। लेकिन वे अपना वश केवल हिन्दुओं पर ही समझते थे—देश के बँटवारे में वे हिन्दू-पक्ष का ही तो प्रतिनिधित्व कर सके थे। १३ जनवरी, १९४८ को उन्होंने हिन्दुस्तान की, और विशेष रूप से दिल्ली की साम्प्रदायिक अवस्था को सम्हालने के लिए अनशन आरम्भ कर दिया। इस अनशन से हिन्दुस्तान में साम्प्रदायिक स्थिति में काफ़ी सुधार हुआ। अठारह जनवरी को महात्मा गांधी ने अनशन समाप्त कर दिया।

लेकिन क्या इस तरह के अनशनों से नफ़रत का ज़हर दूर किया जा सकता है? हिंसा का उत्तर हिंसा है, अहिंसा अस्वाभाविक है, क्योंकि अहिंसा नकारात्मक तत्त्व है।

क्या महात्मा गांधी की हिन्दुओं की भर्त्सना में हिंसा नहीं है? क्या महात्मा गांधी के अनशन में हिंसा नहीं है? जगतप्रकाश इन प्रश्नों में उलझा हुआ था, लेकिन वह देख रहा था कि जहाँ-जहाँ महात्मा गांधी गए, वहाँ से हिंसा जाती रही।

महात्मा गांधी ने कुछ दिन पहले कहा था—मैं सवा सौ वर्ष जीवित रहना चाहता था, लेकिन अब मेरी जीने की इच्छा जाती रही है। मैं भगवान् से प्रार्थना करता हूँ कि वह मुझे दुनिया से उठा ले।

देश का विघटन हुआ, मानवता का विघटन हुआ, मूल्यों का विघटन हुआ और महात्मा गांधी नितान्त निरुपाय यह सब देखते रहे—मर्माहत-से। उनके स्वर में पीड़ा थी, उनकी वाणी में पीड़ा थी, उनके प्राणों में पीड़ा थी लेकिन उनकी यह पीड़ा कभी-कभी अनजाने ही कटु हो जाती थी। यह कटुता दूसरों के प्रति नहीं थी, यह कटुता अपनों के प्रति थी, अपने प्रति थी।

भारत की राजनीति से महात्मा गांधी हट चुके थे, चीज़ें उनके हाथ से बाहर हो चुकी थीं। न प्रेम किसी का आरोपित किया जा सकता है, न हिंसा को किसी से ज़बरदस्ती निकाला जा सकता है। यह कटुता भी तो एक तरह की हिंसा ही है, चाहे वह कटुता अपने ही प्रति क्यों न हो।

जगतप्रकाश अपने से उलझ गया, अहिंसा का दर्शन ही उलझा हुआ है। यह दर्शन आदर्शों के कवित्व से ओत-प्रोत है, यह दर्शन भावना की उदात्तता का प्रतीक है, लेकिन यह दर्शन सत्य नहीं है, क्योंकि यह नित्य नहीं है।

महात्मा गांधी के अनशन तोड़ने के तीन दिन बाद ही उनकी प्रार्थना-सभा के पास ही बम का एक विस्फोट हुआ। जिस व्यक्ति ने वह बम फेंका था वह गिरफ्तार कर लिया गया। और महात्मा गांधी ने उस आदमी के प्रति दया का भाव दिखाया। अपनी कोई चिन्ता नहीं, अपनी हत्या करने का प्रयत्न करने वाले के प्रति उनका कोई आक्रोश नहीं। वास्तव में वे महात्मा हैं।

लेकिन महात्मा भी तो मनुष्य हैं, और कोई भी मनुष्य पूर्ण नहीं है। कहीं कोई कमी होनी ही चाहिए हर एक मनुष्य में।

जगतप्रकाश अब अपने को नितान्त टूटा हुआ अनुभव कर रहा था। उसकी सारी आस्थाएँ बिखर चुकी थीं, उसके सारे विश्वास मर चुके थे। उसके सामने था केवल सूनापन—उस सूनेपन के सिवा और कुछ नहीं।

महात्मा गांधी ने कहा था—अब मुझे जीने की इच्छा नहीं है, लेकिन जगत-प्रकाश को अनुभव हो रहा था कि उसके अन्दर जीने की इच्छा मर चुकी है। घुटन—भयानक और असह्य घुटन। उस घुटन को वह कभी-कभी दूर कर लेता था जमील से बात करके, उसके सामने अपनी मनोव्यथा को उँडेल करके। और जिस जमील को वह अभिन्न, अडिग और आदर्श समझता था, वह जमील कायर की भाँति भाग गया है, उसे अकेला छोड़कर। जिस दिन जमील गया था उसी दिन वह निष्प्राण-सा हो गया था। चलते-चलते जमील उसे गले लगाकर रो पड़ा था, "बरखुरदार, क़िस्मत को यही मंजूर है। लेकिन हम दोनों एक-दूसरे के हमेशा-हमेशा नज़दीक रहेंगे।" और उस समय भावा-वेश में उसके भी आँसू आ गए थे। लेकिन वह क्षणिक आवेग था। कौन किसके नज़दीक रहा है? कौन किसके नज़दीक रह सकता है?

जगतप्रकाश अकेला था, शायद यह अकेलापन ही सत्य है। जिसे 'साथ' कहा जाता है, वह सिर्फ़ भुलावा है। यह भुलावा उसके भाग्य में नहीं था, और ज़िन्दगी भुलावे का ही तो दूसरा नाम है।

जगतप्रकाश को अपनी विचारधारा से स्वयं भय लग रहा था। कहीं कोई सहारा तो चाहिए जीवित रहने के लिए, और उसे कहीं कोई सहारा नहीं दिख रहा था। बाहर जो कुछ है, वह स्वयं भी बेसहारे है। यह सहारा तो उसे अपने अन्दर ही ढूँढ़ना पड़ेगा। आस्थाओं को फिर से बटोरना होगा, विश्वास को पुनर्जीवित करना होगा। जीवन निर्माण है, लेकिन यह निर्माण अपने साथ में कहाँ है?

उस दिन दुपहर को जगतप्रकाश खाना खाकर सो गया और देर से उसकी नींद खुली। कुलसुम ने उससे वादा कर लिया था कि वह शाम को छः बजे आएगी—शाम को सब लोग पिक्चर देखने चलेंगे। उसने घड़ी देखी, पौने-छः बजे थे। जल्दी-जल्दी तैयार होकर वह चाय पीने के लिए बैठ गया। और तभी कुलसुम की कार उसके फ़्लैट के सामने रुकी। कुलसुम के साथ परवेज़ और जसवन्त थे। दरवाज़े से ही उसे जसवन्त की आवाज़ सुनाई पड़ी, "जगत! बड़ा ग़ज़ब हो गया। अभी कुछ देर पहले महात्मा गांधी की हत्या हो गई। अभी-अभी रेडियो में यह खबर आई है।"

इन लोगों के आते ही जगतप्रकाश खड़ा हो गया था, जसवन्त की बात सुनकर

वह बोल उठा, "नहीं-नहीं—यह नहीं हो सकता।"

और कुलसुम ने कहा, "जसवन्त ठीक कह रहा है, महात्मा गांधी की हत्या हो गई।"

"महात्मा गांधी की हत्या हो गई—महात्मा गांधी की !" रुँधे हुए गले से जगत-प्रकाश ने कहा और वह कुर्सी पर गिर-सा पड़ा।

सब लोग बैठ गए, जसवन्त कह रहा था, "अपनी प्रार्थना-सभा में जा रहे थे, उसी समय एक आदमी ने उन पर रिवाल्वर से फ़ायर किया। तीन गोलियाँ लगीं उन्हें और उसी समय उनकी मृत्यु हो गई। उनके मुख पर अन्तिम शब्द थे—"हे राम !" हत्या करने वाला पकड़ लिया गया। वह हिन्दू था।"

पता नहीं जगतप्रकाश ने जसवन्त की बात समझी या नहीं, वह फटी-फटी आँखों से ऊपर की छत की ओर देख रहा था, शायद अपने अन्दर वाले प्रश्नों का उत्तर पढ़ने के लिए। कुलसुम जगतप्रकाश की इस मुद्रा से डर गई, "अरे जगत ! इस तरह क्या देख रहे हो ?"

जगतप्रकाश ने कोई उत्तर नहीं दिया, अपलक वह ऊपर देख रहा था, उसके मुख पर असह्य पीड़ा की छाप थी।

कुलसुम चिल्ला उठी, "अरे परवेज़, देखो तो। जगत को क्या हो गया ?"

जसवन्त ने बढ़कर जगतप्रकाश का कन्धा हिलाया, और तभी उसका सिर लुढ़क गया। परवेज़ बोला, "अरे ! मैं अभी डॉक्टर को बुलाता हूँ।" और वह बाहर की ओर दौड़ा।

कुलसुम ने बढ़कर जगतप्रकाश का हाथ पकड़ लिया—उसकी नब्ज़ जाती रही थी। उसने पीछे हटकर कहा, "गया—महात्मा के पीछे-पीछे एक फ़रिश्ता भी गया।" और उसकी आँखों से दो आँसू टपक पड़े।

—'सीधी-सच्ची बातें' से

अन्तिम दर्शन

अरी दानवी दिल्ली ! तेरा कैसा अचल सुहाग ?
तू युग युग से खेल रही है हत्याओं का फाग ?

बोल अरी हत्यारी दिल्ली !
राजपाट की प्यारी दिल्ली !
शक्ति और वैभव के मद की
पशुताभरी दुलारी दिल्ली !

तू खा चुकी न जाने अब तक
कितने सम्राटों, शाहों को,
तू पी चुकी न जाने कितने
हत्याकांडों की आहों को !

मना चुकी तू अरी आज तक
क़त्लेआम के कितने उत्सव !
रक्त-मांस पर पनप रहे हैं
तेरी गुरुता, तेरा वैभव ?

पर उसने कब तुझसे माँगा राजपाट का दान ?
उसके चरणों के नीचे तो थे साम्राज्य महान !
वह समर्थ था, वह तो शिव था, करता था विषपान,
मरते-मरते तुझे दे गया करुणा का वरदान !

(कविता का एक अंश)

भूले-बिसरे चित्र

गजराजसिंह के मकान पर उस समय महफ़िल जमी थी। उसी दिन सुवह गजराजसिंह के समधी राजा चन्द्रभूषणसिंह आ गए थे और उनकी खातिरदारी में नाच-गाना हो रहा था। दोपहर के समय ज्वालाप्रसाद को भी गजराजसिंह के यहाँ भोजन करने का और उस महफ़िल में सम्मिलित होने का न्योता मिला था, लेकिन उस समय ज्वाला-प्रसाद की तबीयत कुछ अधिक भारी थी, इसलिए उन्होंने कहला दिया था कि तबीयत खराब होने के कारण वे आ न सकेंगे। ज्वालाप्रसाद को इस प्रकार ओढ़े-आढ़े और कपड़ों में लिपटे आते देखकर गजराजसिंह को आश्चर्य हुआ। उन्होंने ज्वालाप्रसाद का स्वागत करते हुए कहा, "आइए, ज्वाला बाबू, घर में अकेले थे तो तबीयत नहीं लगी मालूम होती है। भला यह जुकाम भी कोई बीमारी है। लीजिए, कुछ गरम हो जाइए! बरजोर, ज़रा नायब साहेब के लिए भी गिलसिया भरना।"

बरजोरसिंह ने चाँदी की गिलसिया में शराब भरकर ज्वालाप्रसाद को दी। ज्वालाप्रसाद ने एक घूँट शराब पीकर गिलसिया अपने सामने रख दी। और फिर अपने चारों ओर देखा। कमरे में बहुत थोड़े-से इने-गिने आदमी थे। कानपुर से एक तवायफ़ आई थी और वह गा रही थी। राजा चन्द्रभूषणसिंह आँखें बन्द किये हुए गाव-तकिये के सहारे लेटे थे। पहले तो ज्वालाप्रसाद को लगा जैसे राजा साहेब सो रहे हैं, लेकिन फिर उन्होंने देखा कि राजा साहेब का हाथ समय-समय पर उनके आगे रखे हुए चाँदी के गिलास को उठाकर उनके होंठ तक पहुँचाता था और फिर गिलास को फ़र्श पर रख देता था। राजा चन्द्रभूषणसिंह की बग़ल में ही बरजोरसिंह बैठे थे और बरजोरसिंह की आँखें अंगारों की तरह दहक रही थीं। राजा चन्द्रभूषणसिंह के गिलास में वे जिस गति से शराब भर रहे थे, उसकी दूनी गति से वह अपना गिलास भरते जाते थे।। उस महफ़िल में दो-एक लोग और थे जिन्हें ज्वालाप्रसाद ने पहले न देखा था और जो सम्भवत: राजा चन्द्रभूषणसिंह के साथ आए थे।

सामने नाच हो रहा था, लेकिन उस नाच को कम-से-कम राजा चन्द्रभूषणसिंह तो न देख रहे थे। वैसे नाचने वाली का गला सुरीला था, और उसे संगीत का अच्छा ज्ञान था। उसके पास रूप और यौवन भी था, लेकिन ज्वालाप्रसाद ने अनुभव किया कि उस महफ़िल में उल्लास नहीं है, उमंग नहीं है। कुछ देर तक ज्वालाप्रसाद गाना

सुनते रहे, फिर उन्होंने गजराजसिंह के कान में धीरे से कहा, "ठाकुर साहेब, कुछ ज़रूरी बात करनी थी आपसे, नहीं तो इस बीमारी की हालत में मैं न आता।"

"हाँ हाँ ! तो क्या बग़ल वाले कोठे में चलूँ ?" गजराजसिंह ने पूछा।

"नहीं, यहीं एक कोने में खिसक आइए। लेकिन ज़रा बरजोरसिंह को भी यहाँ बुला लीजिए, बात बरजोरसिंह के ही सम्बन्ध में है।" ज्वालाप्रसाद बोले।

गजराजसिंह ने गम्भीर होकर कहा, "ज्वाला बाबू, जो होना था वह हो गया। जो कुछ आगे होने वाला है वह अपने बस की बात नहीं है; उसे कोई रोक नहीं सकता। मुझे मालूम है कि आप क्या कहना चाहते हैं; यही न कि परभूदयाल बरजोरसिंह की ज़मीन पर कल ही क़ब्ज़ा करेगा !"

ज्वालाप्रसाद चौंक-से उठे, "आपको यह सब मालूम है ? बड़े आश्चर्य की बात है !"

"इसमें अचरज की क्या बात है ? जो परभूदयाल को जानता है, वह यह कह सकता है कि उस ज़मीन को अपने नाम दाखिल-खारिज कराके वह चुप न बैठेगा। खेत में फ़सल खड़ी है, और भगवान की कृपा से इस दफा फसल के बहुत अच्छी होने की आशा है; दस मन बीघा से कम किसी हालत में न होगा। तो भला परभूदयाल यह फ़सल छोड़ सकता है ? वह कल ही बरजोर की खुदकाश्त पर क़ब्ज़ा करेगा।"

"लेकिन आप यह कैसे कह सकते हैं कि कल क़ब्ज़ा करेगा ?"

"नायब साहेब, शाम के वक़्त वह आपके यहाँ गया था या नहीं ? शायद आपसे उसे निराशा हुई, इसलिए वह थानेदार अमजदअली के यहाँ गया और थानेदार अमजद-अली को साथ लेकर वह अपने गाँव गया। दल-बल के साथ वह कल बरजोर की खुद-काश्त पर क़ब्ज़ा लेने आएगा। दुर्भाग्य की बात है कि उसके साथ सरकार की ताक़त होगी, सरकार का क़ानून होगा, सरकार के सिपाही होंगे। सरकारी मदद के बग़ैर आवे तो हम बता दें कि किस तरह क़ब्ज़ा पाया जाता है।"

"तो फिर क्या होगा ?" निराश भाव से ज्वालाप्रसाद ने पूछा।

"हुइहै वही जो राम रचि राखा !" गजराजसिंह ने तुलसीदास की चौपाई पढ़ी, "अब आप आराम कीजिए जाकर ज्वाला बाबू ! इस बुखार की हालत में हम लोगों की चिन्ता करके आप दौड़े आए हैं, इसके लिए धन्यवाद ! लेकिन आपके चिन्ता करने से कुछ बनेगा नहीं, यह तो आप देख ही चुके हैं। नियति के क्रम को भला कोई बदल सका है !"

"यह खुसुर-फुसुर क्या बातें हो रही हैं, ज़रा हम भी तो सुनें," बरजोरसिंह ने अपने स्थान पर बैठे-बैठे ही कहा। और इसी समय राजा चन्द्रभूषणसिंह भी संभलकर बैठ गए।

गजराजसिंह ने उत्तर दिया, "कुछ नहीं, नायब साहेब लाला परभूदयाल की बाबत बात कर रहे थे।"

बरजोरसिंह हँस पड़ा, "कर लें आप दोनों उस परभूदयाल के सम्बन्ध में बात-चीत, लेकिन इस बातचीत में बरजोरसिंह को न घसीटें। जहाँ तक बरजोरसिंह का सवाल है, वहाँ बरजोरसिंह अकेले परभूदयाल से निपटेंगे।"

बरजोरसिंह का स्वर कुछ ऐसा था जो ज्वालाप्रसाद को कुछ अच्छा नहीं लगा। तब तक राजा चन्द्रभूषणसिंह बोल उठे, "डटे रहना बरजोर, हम तुम्हारे साथ हैं।

राज-वंश अभी इतना निर्बल नहीं हुआ है कि कायर बनकर चुपचाप बैठ जाय। इस बनिये की इतनी मजाल कि वह हम लोगों का अपमान करे!"

ज्वालाप्रसाद मर्माहत-से उठ खड़े हुए। उनके मन में एक प्रकार का भय भर गया था, एक प्रकार की आशंका जाग उठी थी। उन्होंने निराशा-भरे स्वर में गजराजसिंह से कहा, "अच्छा, तो अब मुझे आज्ञा दीजिए, घर जाकर सोऊँगा। एक तरह की चिन्ता सता रही थी तो चला आया था; बाकी आगे क्या होगा यह तो आप लोगों के हाथ में है।"

गजराजसिंह ने ज्वालाप्रसाद को विदा करने के लिए उनके साथ चलते हुए कहा, "आप इतमीनान के साथ सोइए जाकर। यह हम लोगों का मामला है और हम लोग किसी-न-किसी तरह इसे सुलझा भी लेंगे। हाँ, आपसे इतनी विनय जरूर है कि अब आगे से आप अपने को इस मामले से अलग रखिएगा, जैसे न आप कुछ जानते हैं और न कुछ जानना चाहते हैं। जिस चीज़ को आप ठीक तौर से नहीं करवा सके, उसे अपने-आप सही-ग़लत ढंग से होने दीजिएगा।

ज्वालाप्रसाद घर लौट आए। बादल अब ज़ोर से कड़कने लगे थे और बूँदाबाँदी शुरू हो गई थी। तहसील के घण्टे ने टन-टन करके नौ बजाए। उत्तरी हवा समस्त वेग बटोरकर चल रही थी और घाटमपुर का क़स्बा कुछ अजीब ढंग से वीरान लग रहा था। ज्वालाप्रसाद घर आकर लेट गए। बड़ी थकावट भर गई थी उनके शरीर में, उनके मन में, उनके प्राण में। उनके अन्दर से कोई कह रहा था कि गजराजसिंह के यहाँ जाकर उन्होंने अच्छा नहीं किया। उन्होंने वहाँ जाकर अनुभव किया कि गजराजसिंह, बरजोरसिंह, चन्द्रभूषणसिंह, इन सबमें और उसमें एक बहुत बड़ी दूरी है। उन लोगों में ज्वालाप्रसाद के लिए कोई आत्मीयता नहीं, उसके प्रति कोई विश्वास नहीं। वे इन लोगों से दूर हैं, वे लाला प्रभुदयाल से दूर हैं; यही नहीं, वे अपने नौकरों से दूर हैं, अपनी पत्नी से दूर हैं। कोई भी तो उनके निकट नहीं है, उनके चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार है; जैसे वे उस अन्धकार में डूबते जा रहे हैं, उनकी चेतना विलुप्त होती जा रही है। और उन्हें नींद आ गई।

वे कितनी देर सोए, इसका उन्हें कोई अन्दाज़ा नहीं था। जब लच्छीराम मुनीम ने उन्हें जगवाया तो आँखें मलते हुए उन्होंने उससे पूछा कि क्या बात है। लच्छीराम बड़े घबड़ाए स्वर में बोला, "नम्बरदारिन ने सरकार को इसी समय बुलवाया है। नम्बरदार साहेब नहीं रहे, कुछ देर पहले किसी ने उन्हें मार डाला। थानेदार अमजदअली को शिवपुरा के लिए रवाना करके हम लोग आपके पास आये हैं।"

ज्वालाप्रसाद चौंक उठे, "क्या कहा, लाला प्रभुदयाल को किसी ने मार डाला? उन्हें किसने मारा, कैसे मारा?"

"अब यह तो वहाँ चलकर आपको नम्बरदारिन से मालूम होगा। नौकर-चाकरों से सिर्फ़ इतना पता चला कि क़रीब दस-ग्यारह बजे रात को हवेली के फाटक तक थानेदार अमजदअली को पहुँचाकर नम्बरदार साहेब वापस लौट रहे थे। जब वे बाहरी कोठे पर चढ़ रहे थे तभी एकाएक उन्होंने चिल्लाकर कहा, 'बचाओ-बचाओ—मार डाला।' उनकी इस आवाज़ पर सब नौकर दौड़े। वहाँ पहुँचकर उन्होंने देखा कि नम्बरदार साहेब मुँह के बल औंधे पड़े हैं और पीठ से ख़ून का फ़व्वारा छूट रहा है। नम्बरदारिन तो यह देखकर बेहोश हो गईं। उसी वक़्त एक नौकर ने दौड़कर हमें

बुलाया। जागकर हम भी पहुँचे वहाँ। होश में आने पर नम्बरदारिन ने हमें, आपको और थानेदार साहेब को बुलाने भेजा।"

कुछ होने वाला है, ज्वालाप्रसाद को इसका आभास था; लेकिन यह कुछ इतनी जल्दी हो जाएगा, ज्वालाप्रसाद ने इस पर न सोचा था। ज्वालाप्रसाद ने उठकर जल्दी-जल्दी कपड़े पहने। एक बार उनके मन में विचार आया कि ठाकुर गजराजसिंह को प्रभुदयाल की हत्या की खबर दे दी जाए, पर दूसरे ही क्षण उन्हें ऐसा लगा कि यह सब बेकार होगा। न जाने कैसे, उनके मन में उसी समय यह धारणा उठ खड़ी हुई कि ठाकुर गजराजसिंह को इस हत्या का पता है। लच्छीराम तथा अन्य नौकरों के साथ, इक्के में बैठकर वे उसी समय शिवपुरा के लिए रवाना हो गए।

उस समय बादल छँट गए थे और चाँद निकल आया था। सरदी अब बहुत अधिक बढ़ गई थी। हाथ-पैर ठिठुर रहे थे। जब ये लोग शिवपुरा पहुँचे, लाला प्रभुदयाल की हवेली में मौत के भय का सन्नाटा-सा छाया हुआ था। एक भीड़ जमा थी, लेकिन सब चुप थे, किसी को ज़ोर से बोलने की हिम्मत नहीं होती थी; दबे स्वर में कभी-कभी एक-आध आदमी बोल देता था।

थानेदार अमजदअली छः सिपाहियों के साथ वहाँ मौजूद थे। प्रभुदयाल के शव के पास नम्बरदारिन जँदेई बैठी सिसक रही थीं। सब लोग ज्वालाप्रसाद की प्रतीक्षा कर रहे थे। ज्वालाप्रसाद को देखते ही जँदेई पागल की तरह चीखकर उनके पैरों पर गिर पड़ी, "देवरजी, हम लुट गईं। हाय राम। अब क्या होगा?"

थानेदार अमजदअली अब ज्वालाप्रसाद के पास आ गए। उन्होंने कहा, "नम्बरदारिन का कहना है कि मरने से पहले परभूदयाल ने दो दफा बरजोरसिंह का नाम लिया था। इन नौकरों का भी यही कहना है। मैंने इनके बयान क़लमबन्द कर लिए हैं। अभी पाँच मिनट पहले मैंने हवलदार रामरतन के साथ चार सिपाही बरजोरसिंह को गिरफ़्तार करने के लिए घाटमपुर उसके बहनोई के मकान पर भेज दिए हैं।"

□□

मिस्टर हैरिसन के यहाँ वाले डिनर में कुल बारह आदमी थे, जिनमें छः हिन्दुस्तानी थे। इन हिन्दुस्तानियों में चार हिन्दू थे, और दो मुसलमान—सर लक्ष्मीचन्द्र, राजा शिवकुमार, रायबहादुर गोपीनाथ और गंगाप्रसाद, खानबहादुर नूरअहमद और नवाब अशफ़ाक हुसेन। जिस समय सब लोग एकत्रित हुए और शराब के दौर चलने लगे तथा बातचीत होने लगी, गंगाप्रसाद को कुछ ऐसा लगा कि वह एक राजनीतिक डिनर है। अंग्रेज़ों में कानपुर के कलक्टर और सुपरिण्टेण्डेण्ट पुलिस के अलावा चारों मिल-मालिक थे।

मिस्टर हैरिसन तो कुछ आवश्यकता से अधिक पी गए थे या वह कुछ अत्यधिक जोश में थे। उन्होंने कहा, "कुल छः साल की सज़ा इस गांधी को! सारे हिन्दुस्तान में बग़ावत फैलाने वाले इस महान् विद्रोही को गोली मार देनी चाहिए थी। क्यों सर लक्ष्मीचन्द्र, क्या खयाल है तुम्हारा?"

लक्ष्मीचन्द्र ने उसकी बात का कोई उत्तर नहीं दिया। उत्तर दिया रायबहादुर

गोपीनाथ ने, "चलिए बला टली ! मेरा तो व्यापार ही खत्म कर दिया इस बदमाश ने ! मैन्चेस्टर से मेरे पास पाँच लाख का कपड़ा आ रहा है; मैं तो बड़ा चिन्तित था।"

खानबहादुर नूरअहमद बोल पड़े, "क्या बात कही गोपीनाथ साहब ! आदमी फितना है, कैसी आग लगा रखी है इसने !"

मिस्टर हैरिसन का जोश और भी बढ़ा, "वह आग बुझ गई। आज मैं आप लोगों को यह बतलाना चाहता हूँ कि मैंने यह पार्टी उस वहशी ग़द्दार के जेल जाने की खुशी में दी है।"

गंगाप्रसाद ने अपने साथी हिन्दुस्तानियों की ओर देखा। किसी के माथे पर शिकन नहीं थी, इस आदमी की बदतमीज़ी के कारण। अब उससे न रहा गया, "मिस्टर हैरिसन, अगर आपने पहले से अपने इस डिनर की नीच और नापाक भावना का ज़िक्र कर दिया होता तो कम-से-कम मैं तो इस डिनर में सम्मिलित न होता, और शायद यहाँ आने वालों में चार-छः आदमी और भी न आते।"

डिनर में आमन्त्रित सभी अतिथि गंगाप्रसाद की इस बात से चौंक उठे। मिस्टर हैरिसन कानपुर के बहुत बड़े पूँजीपति और मिल-मालिक थे और उनका कहना था कि वे इंग्लैण्ड के किसी ऊँचे लॉर्ड खानदान के हैं। फिर मिस्टर हैरिसन अपने उग्र स्वभाव के लिए प्रसिद्ध भी थे। उनका मुख तमतमा उठा गंगाप्रसाद की इस बात से, "तो क्या आप उस बदमाश, लुच्चे, झूठे और फ़रेबी गांधी को महात्मा समझते हैं ?"

अकारण ही हैरिसन की इस गाली-गलौज से गंगाप्रसाद और अधिक भड़का, "मिस्टर हैरिसन, यह तुम्हारा कमीनापन और लुच्चापन है, जो तुम उस महापुरुष को गालियाँ दे रहे हो। हम लोग उसकी राजनीति से भले ही सहमत न हों, लेकिन उसकी महत्ता, ईमानदारी और शराफ़त से कोई इन्कार नहीं कर सकता।"

हैरिसन उठ खड़ा हुआ, "तुम मुझे लुच्चा और कमीना कहते हो, तुम काले आदमी ! हम लोगों ने जो तुम्हें मुँह लगाया, उसका यह नतीजा ! फिर से कहना, मैं तुम्हारा मुँह तोड़ दूँगा !"

गंगाप्रसाद भी अपनी आस्तीन चढ़ाता हुआ उठ खड़ा हुआ, "तुम लुच्चे हो, तुम कमीने हो, तुम हरामज़ादे हो !"

एक हंगामा-सा मच गया वहाँ। अतिथियों ने इन दोनों को रोका। स्पष्ट रूप से ग़लती हैरिसन की थी, और सब लोगों के, खास तौर से अंग्रेज़ मिल-मालकों के, ज़ोर देने पर मिस्टर हैरिसन ने महात्मा गांधी के प्रति अपने शब्दों को वापस ले लिया। इसके बाद गंगाप्रसाद ने भी अपने शब्दों को वापस ले लिया। वातावरण फिर शान्त हो गया, अतिथिगण खाने पीने लगे।

□□

दूसरे दिन जब गंगाप्रसाद कचहरी पहुँचा, कलक्टरी के चपरासी ने आकर उससे कहा, "हुज़ूर, साहेब ने आपको सलाम भेजा है।"

गंगाप्रसाद सीधा कलक्टर के पास पहुँचा। कलक्टर ने कहा, "मिस्टर गंगा-प्रसाद, यह हैरिसन नम्बरी पाजी और बदमिज़ाज है।"

"श्रीमान्, वह पिए हुए था और मैंने भी काफ़ी पी ली थी," गंगाप्रसाद ने सकपकाते हुए कहा।

"नहीं, उसमें तुम्हारा कोई क़सूर नहीं था। लेकिन यह हैरिसन तुम्हारे पीछे पड़ गया है। उसने सरकारी तौर से कमिश्नर के पास तुम्हारी शिकायत भेजी है, मेरी मार्फ़त। यह उसका पत्र है।" यह कहकर कलक्टर ने हैरिसन का पत्र गंगाप्रसाद के हाथ में दे दिया।

गंगाप्रसाद ने वह पत्र पढ़ा और सन्नाटे में आ गया। हैरिसन ने उस पर कांग्रेसी होने का लांछन लगाया था। पिछली रात की घटना को उसने बड़ी अतिरंजना के साथ चित्रित किया था। पत्र पढ़कर गंगाप्रसाद ने कलक्टर से कहा, "श्रीमान् तो जानते हैं कि यह सब झूठ है।"

"हाँ, और बुग्ज़ से भरा झूठ है। मैं इस पर अपना नोट तो लिख रहा हूँ, लेकिन अच्छा यह होगा कि तुम भी कमिश्नर से मिल लो। इस हैरिसन की बात को बहुत सम्भव है, कमिश्नर महत्त्व दें और कमिश्नर के मन में अगर तुम्हारे ख़िलाफ गाँठ पड़ जाए तो यह तुम्हारे भविष्य के लिए अच्छा न होगा। इससे पहले कि मैं यह शिकायत कमिश्नर के पास भेजूँ, तुम कमिश्नर को अपने ढंग से यह क़िस्सा बतला दो! मेरा नोट तुम्हारे पक्ष में होगा।"

कलक्टर के यहाँ से लौटकर गंगाप्रसाद ने चार दिन की छुट्टी की दरख़्वास्त दे दी, जिसे कलक्टर ने उसी समय स्वीकृत कर दिया। शाम के समय जब गंगाप्रसाद घर लौटा, सत्यव्रत उसकी प्रतीक्षा कर रहा था। गंगाप्रसाद ने सत्यव्रत को देखते ही कहा, "अच्छी बात है सत्यव्रत, मैं कल सुबह इलाहाबाद चल रहा हूँ। मैंने आज चार दिन की छुट्टी ले ली है। तुम सुबह ही एक्सप्रेस पकड़ने के लिए स्टेशन पर पहुँच जाना!"

सत्यव्रत का मुरझाया हुआ चेहरा खिल गया, "जंट साहेब, इस उपकार के लिए मैं आपको किस तरह धन्यवाद दूँ!"

गंगाप्रसाद ने रुखाई के साथ कहा, "धन्यवाद की कोई ज़रूरत नहीं सत्यव्रत, मैं किसी पर उपकार नहीं कर रहा। यह तो आन का मामला है!" फिर मन में उसने अपने-आप से कहा, 'देखता हूँ कैसे कोई मुझे पराजित करता है!'

गंगाप्रसाद की यह बात सत्यव्रत की समझ में नहीं आई। शायद उसे समझाने के लिए गंगाप्रसाद ने यह बात कही भी नहीं थी।

इलाहाबाद पहुँचते ही गंगाप्रसाद कमिश्नर से मिला। गंगाप्रसाद की बात सुनकर वह बोला, "तो तुम गांधी को महात्मा समझते हो? यह अर्द्धसभ्य बाग़ी महात्मा है, तुम्हारा ऐसा ख़याल है?" कमिश्नर के स्वर में व्यंग्य था।

गंगाप्रसाद ने दृढ़ता से भरी विनय के साथ उत्तर दिया, "हुज़ूर, मैं उनके विचारों और उनकी राजनीति से सहमत न होते हुए भी उनके चरित्र और ईमानदारी की इज़्ज़त तो कर ही सकता हूँ। मेरा ऐसा ख़याल है कि ब्रिटिश जाति इतनी अनुदार नहीं है कि वह लोगों को दूसरे के गुणों की इज़्ज़त करने से रोके।"

कमिश्नर ने दाँतों से अपने होंठ काटते हुए कहा, "ब्रिटिश जाति इतनी अनुदार नहीं है, व्यक्ति अनुदार हो सकता है। अगर तुमने जो कुछ कहा है, वह ठीक है, तो हैरिसन की शिकायत का मुझ पर कोई असर नहीं होगा।"

गंगाप्रसाद सन्तुष्ट होकर बोला, "श्रीमान्!" और वह चलने लगा।

कमिश्नर ने उसे रोका, "मिस्टर गंगाप्रसाद, जो हो गया वह हो गया, लेकिन एक बात भविष्य के लिए याद रखना—अंग्रेज अंग्रेज है, हिन्दुस्तानी हिन्दुस्तानी है! एक शासक है, दूसरा शासित है। यह बात तुम्हें बुरी भले ही लगे, लेकिन यह सत्य है। और इसलिए आगे से ऐसे मामलों में तुम्हारे लिए खामोशी ज्यादा फ़ायदेमन्द रहेगी।"

□□

विद्या ने नवल से पूछा, "दादा, तुम उषा से कब से नहीं मिले?"

"क्यों, क्या बात है? इधर दस-बारह दिन से नहीं गया हूँ उधर। कोई खास बात है?"

"समझ में नहीं आता। आज वह मुझे अजीब तरह से बदली हुई दिखी। दोपहर को घर में जी नहीं लगा तो मैं उषा के यहाँ चली गई। लेकिन शायद उस समय मेरा वहाँ पहुँचना उन लोगों को बहुत अच्छा नहीं लगा। क्यों दादा, कोई राजेन्द्रकिशोर हैं जो विलायत से आई० सी० एस० होकर लौटे हैं?"

नवल थोड़ा-सा चौंका, "राजेन्द्रकिशोर! अरे हाँ, एक बार उनसे मिला हूँ। तो क्या राजेन्द्रकिशोर वहाँ थे?"

"हाँ, उन्हें खाने पर बुलाया गया था। रायबहादुर साहेब और गौरीनाथ उनकी खातिरदारी में लगे हुए थे, और उषा भी उन्हीं के पास बैठी घुल-घुलकर बातें कर रही थी। मेरे पास बैठने या मुझसे बातें करने का समय ही नहीं था उसे। उषा की माँ और मामी अन्दर व्यस्त थीं। वहाँ कुछ देर रुककर मैं चली आई।"

नवल ने कुछ सोचते हुए कहा, "रायबहादुर और उषा से राजेन्द्रकिशोर का परिचय पारसाल यूरोप में हुआ था। उषा के जन्म-दिन की पार्टी में मैंने राजेन्द्रकिशोर को पहली बार देखा था। आदमी तो अच्छे दिखते हैं। रायबहादुर के यहाँ उनका आना-जाना बढ़ गया होगा।"

विद्या ने चिन्ता-भरी उदासी के स्वर में पूछा, "दादा, सच-सच बतलाना, क्या तुम उषा से प्रेम करते हो?"

"क्यों, यह पागलपन से भरा सवाल करने की क्या ज़रूरत पड़ गई?" नवल ने मुस्कराते हुए पूछा।

"इसलिए कि मुझे ऐसा लगता है जैसे तुम उषा से प्रेम नहीं करते।"

"मैं उषा से प्रेम नहीं करता, यह प्रश्न कैसे उठा?"

"इसलिए कि तुम उषा को पाना ही नहीं चाहते। दादा, इधर मुझे कुछ ऐसा लगने लगा कि उषा अपने जीवन में कुछ अभाव-सा अनुभव कर रही है, और उस अभाव को दूर करने के लिए बुरी तरह छटपटा रही है।"

नवल ने कहा, "विद्या, तुम मुझे ग़लत समझ रही हो। मैं उषा से प्रेम करता हूँ—बहुत अधिक, लेकिन वह नहीं बन सकता जो उषा चाहती है। अपने अन्दर वाली पुकार के प्रति मैं कैसे बहरा बन जाऊँ? वैभव, सम्पन्नता, पद, मैं इन्हें जीवन में महत्त्व नहीं देता, लेकिन उषा इन्हीं चीज़ों को महत्त्व देती है। अब तुम्हीं बताओ मैं क्या करूँ!"

"तुम उषा से साफ़-साफ़ क्यों नहीं बात कर लेते दादा ? वह तुम्हारे दिल की बात जानती नहीं, समझती नहीं, क्योंकि तुमने कभी उससे अपने दिल की बात कही नहीं। और इसीलिए वह समझती है कि उसके प्रति तुम्हारी उपेक्षा है। और इस उपेक्षा से उसके मन में एक प्रकार की कटुता पैदा हो जाना स्वाभाविक है।"

नवल ने कुछ सोचा, "शायद तुम ठीक कहती हो विद्या ! मैं कल ही उषा के यहाँ जाऊँगा और उससे बात करूँगा।"

दूसरे दिन शाम के समय नवल उषा के यहाँ गया। उस समय उषा बैठक में बैठी एक उपन्यास पढ़ रही थी। वह कहीं बाहर जाने को तैयार मालूम देती थी; पूरी तौर से सजी-धजी हुई थी। उसने उठकर नवल का स्वागत किया। उपन्यास बन्द करके मेज़ पर रखते हुए उसने कहा, "आज बहुत दिनों बाद आए आप नवल बाबू, बैठिए !"

नवल ने बैठते हुए उत्तर दिया, "हाँ, फ़रवरी का महीना है न ! इम्तिहान के अब कुल ढाई-तीन महीने बाकी हैं।"

उषा ने मुस्कराते हुए कहा, "एल-एल० बी० का ही तो इम्तिहान है; इसमें तो लोग बिना पढ़े-लिखे पास हो जाते हैं।" फिर कुछ गम्भीर होकर उसने कहा, "सुना है आजकल आप कांग्रेस का काफ़ी काम-काज करने लगे हैं; गौरी भाई साहेब कहते थे। उससे फ़ुरसत नहीं मिलती होगी !"

उषा ने जो कुछ कहा था, वह सत्य था। नवल को एक तरह की झुंझलाहट हुई यह सत्य सुनकर। "हाँ, कभी-कभी कांग्रेस के दफ़्तर भी चला जाया करता हूँ। ज्ञान बाबा हैं न वहाँ !" नवल बोला। फिर उसने कहा, "क्या कहीं जा रही हो ? अगर नहीं तो चलो कहीं घूम आएँ चलकर। आज तुमसे बहुत-सी बातें करनी हैं।"

"यहीं बातें करें न हम लोग ! घर में इस समय कोई नहीं है," उषा ने कहा। "ठहरिए, आपके लिए चाय मँगवा लूँ !"

"नहीं, चाय नहीं पिऊँगा, घर से पीकर चला था। मैं तो केवल तुमसे बातें करने आया था।"

"लेकिन मैंने नहीं पी है चाय, तो मेरा साथ तो आप दे ही सकते हैं !" यह कहकर उषा ने नौकर को चाय बनाने के लिए आवाज़ दी। फिर उसने कहा, "हाँ, कहिए अब अपनी बात !"

नवल ने गला साफ़ करते हुए कहा, "सबसे पहली बात तो यह है उषा कि शायद हम दोनों, बिना जाने हुए, एक-दूसरे से दूर हटते जा रहे हैं। क्या तुम भी ऐसा अनुभव करती हो ?"

उषा ने नवल को कोई उत्तर नहीं दिया।

थोड़ी देर तक उषा के उत्तर की प्रतीक्षा करके नवल ने कहा, "इसमें शायद दोष मेरा है। मेरे जीवन की गति बदल गई है, मेरी मान्यताएँ बदल गई हैं—अनायास ही। एक भयानक झटका लगा मुझे, और उस झटके ने मेरे जीवन की धारा मोड़ दी।"

उषा अब भी मौन रही, वह नवल को एकटक देख रही थी।

नवल कहता जा रहा था, "बाबूजी की मृत्यु ने हम सब लोगों को बुरी तरह झकझोर दिया। मेरे सपने टूट गए, मैं इंग्लैंड नहीं जा सका।"

उषा अब बोली, "नवल बाबू, यहाँ आप ग़लत कह रहे हैं। पापा ने आपको इंग्लैंड भेजने की न जाने कितनी कोशिश की, हर तरह उन्होंने आपको समझाया-बुझाया। लेकिन आपने पापा को अपना नहीं समझा, मुझे अपना नहीं समझा और आपने साफ़ इन्कार कर दिया। इससे पापा को बुरा भी लगा।"

उषा की बात सत्य है, नवल यह जानता था। उसने कहा, "उषा, पापा मुझे ठीक तरह से नहीं समझ पाए; तुम भी मुझे ठीक तरह से नहीं समझ पा रही हो। असल बात यह है कि वैभव और सम्पन्नता के प्रति मुझमें एक तरह की वितृष्णा भर गई है, क्योंकि इस वैभव और सम्पन्नता में एक तरह की निष्क्रियता है, और यह निष्क्रियता मनुष्य को नीचे गिराने का सबसे बड़ा साधन है।"

उषा का स्वर कुछ कड़ा हो गया, "नवल बाबू, तो आप समझते हैं कि जिनके पास वैभव और सम्पन्नता है, वे पतित हैं ?"

उषा के इस प्रश्न से नवल सकपका गया, "नहीं, मेरा मतलब यह नहीं था। मैं केवल इतना कहना चाहता था..."

उषा ने नवल की बात काटी, "आप क्या कहना चाहते हैं, वह मैं समझ गई। गौरी भाई साहेब ठीक ही कहते थे।"

गौरीनाथ नवल को पसन्द नहीं करता था, नवल यह जानता था। वह भी तो गौरीनाथ को पसन्द नहीं करता था। एक अकर्मण्य आदमी, जिसे अपने वैभव पर बेहद गर्व था, जो अपनी सम्पन्नता का हर दम प्रदर्शन करता था, जो दूसरों की मेहनत और कमाई पर मौज उड़ाता था। सीतानाथ पढ़ा-लिखा अधिक नहीं था, लेकिन वह मेहनत तो करता था। वह स्पष्टभाषी था—असभ्य कहलाने की हद तक, लेकिन उसमें प्रदर्शन नहीं था।

इसी समय गौरीनाथ ने राजेन्द्रकिशोर के साथ कमरे में प्रवेश किया। नवल की उपेक्षा करते हुए उसने उषा से कहा, "छः बज रहे हैं; अब हम लोगों को चलना चाहिए।" फिर वह नवल की ओर घूमा, "मिस्टर राजेन्द्रकिशोर से तो मिल ही चुके हो नवल ! इनके साथ आज पिक्चर का प्रोग्राम बन गया है। फिर मुलाक़ात होगी। चलो उषा !"

उषा ने अन्यमनस्क भाव से कहा, "गौरी भाई साहेब, सिर में कुछ दर्द है, मन में भारीपन है। मेरा चलना क्या बहुत ज़रूरी है ?"

"अरे, पिक्चर देखकर मन हल्का हो जाएगा और सिर का दर्द ग़ायब हो जाएगा। मिस्टर राजेन्द्रकिशोर अपना एक ज़रूरी काम छोड़कर यहाँ आए हैं; तीन सीटें भी बुक करा ली हैं।"

उषा ने विवशता की एक नज़र नवल पर डाली। नवल उठ खड़ा हुआ, "हो आओ उषा, मैं फिर कभी आऊँगा। इस समय मुझे भी कांग्रेस कमेटी के दफ़्तर में जाना है।"

गौरीनाथ ने व्यंग्य किया, "सुना है नेता बनने की फ़िक्र में हो नवल ! एल-एल० बी० तो पास कर लेते !"

नवल ने गौरीनाथ के इस व्यंग्य पर कोई ध्यान नहीं दिया, "वह तो पास करूँगा ही गौरी भाई साहेब ! फिर नेता बनने की मुझमें न तो क्षमता है, न अभिलाषा ही। हाँ, फुरसत के समय कांग्रेस का थोड़ा-बहुत काम कर देता हूँ।"

राजेन्द्रकिशोर मुस्कराया, "कहाँ आई० सी० एस० बनने के सपने और कहाँ कांग्रेस में स्वयंसेवक का काम ! अजीब विडम्बना है !"

राजेन्द्रकिशोर के इस व्यंग्य से उषा तड़प उठी। उसने नवल से कहा, "नवल बाबू, सुन रहे हैं आप ! अब भी समय है। अगर आप अपने को अब भी बदल सकते हों तो बदलिए।" और बिना नवल के उत्तर की प्रतीक्षा किये हुए वह राजेन्द्रकिशोर और गौरीनाथ के साथ कमरे से निकल गई।

दो कलाकार

[एक बड़ा-सा कमरा। कमरे में किसी प्रकार का कोई फ़र्नीचर नहीं है। अन्दर की तरफ़ कमरे के आधे भाग में तसवीरें बिखरी पड़ी हैं और दूसरे आधे भाग में पुस्तकें बिखरी पड़ी हैं। फर्श पर स्टेज के एक विंग से लेकर दूसरे विंग तक चटाई बिछी है। चटाई के बीचोबीच एक तकिया है जो स्टेज के सामने न होकर दोनों विंगों के सामने है। तकिये को अपनी पीठ पर रखकर विंग की ओर मुँह किये एक ओर पंडित चूड़ामणि बैठे हैं और दूसरी ओर मिस्टर मार्तण्ड बैठे हैं। चूड़ामणि के आगे एक मोटा-सा रजिस्टर है जिस पर वे फाउन्टेनपेन से लिख रहे हैं। मार्तण्ड के आगे एक छोटा-सा स्टैण्ड है जिस पर एक अधबनी तस्वीर लगी है। मार्तण्ड के हाथ में एक तूली है और वह तसवीर बना रहा है।]

चूड़ामणि : (लिखते-लिखते कलम रोककर, पर उसकी आँखें रजिस्टर पर ही लगी हैं)
सुना मार्तण्ड। आज मैं प्रकाशक परमानन्द के यहाँ गया था। वह बोला कि किताबें बिकती ही नहीं, पैसा कहाँ से आवे। एक पैसा मेरे पास नहीं। और बदमाश ने कल ही एक मोटर खरीदी है।

मार्तण्ड : (तूली रोक कर और तसवीर की ओर ध्यान से देखते हुए)
भाई, यह तो बुरी सुनाई। मैं तो सोचता था कि तुम रुपये ले आए होगे, नहीं तो मैं ही लाला रामनाथ के हाथ सात रुपये में ही तसवीर बेच देता।

चूड़ामणि : (रजिस्टर पर आँखें गड़ाता है, मस्तक पर बल पड़ जाता है)
क्या कहा ? तुम भी रुपये नहीं लाये ?

मार्तण्ड : (चित्र पर तूली से रंग देते हुए)
लाता कैसे ? भला बताओ, पचास रुपये की तसवीर के अगर कोई पचीस तक दे, तो भी वह बेची जा सकती है। लेकिन जब कोई

यह कहे कि मैं सात रुपये के ऊपर एक कौड़ी भी नहीं दे सकता, तब भला तुम्हीं बतलाओ मैं क्या कर सकता था।

चूड़ामणि : (लिखता हुआ)
हूँ। ऐसी बात है। तुम्हारी जगह अगर मैं होता तो मैं उससे साफ़ कहता कि तुम्हारे बाप ने भी कभी तसवीर खरीदी है कि तुम्हीं खरीदोगे और यह कह कर मैं सीधा वापस आता।

मार्तण्ड : (तसवीर बनाता हुआ)
अच्छा होता यार कि तुम्हीं मेरी जगह वहाँ होते।

चूड़ामणि : (लिखता हुआ)
तो क्या तुम बुद्धू की तरह चले आए ?

मार्तण्ड : (तसवीर बनाना रोक कर तसवीर की ओर देखता है)
नहीं यार। मैंने तो उठने की तैयारी करते हुए सिर्फ़ इतना कहा, तुम चोर हो। और जब उसने सिर उठाया तब मुझसे न रहा गया और मैंने उससे कहा, तुम उठाईगीर हो। और जब उसने मेरी तरफ़ देखा तब मैं उससे इतना कहने का लालच न रोक सका। मैंने कहा, तुम गिरहकट हो।

चूड़ामणि : (हँसते हुए रजिस्टर को देखता है)
बात तो तुमने बेजा नहीं कही।

मार्तण्ड : (मुसकराते हुए तसवीर पर तूली चलाने लगता है)
नहीं, बात तो बेजा नहीं थी, लेकिन बात कहने के जोश में मैं यह भूल गया था कि मैं उसके घर में बैठा हूँ। और उसके दस-पाँच नौकर भी हैं।

चूड़ामणि : (कलम ज़मीन पर ठोंकते हुए)
तो फिर तुम पिटे भी ?

मार्तण्ड : (तूली रोक कर)
अगर पिटता, तो भी अच्छा था क्योंकि इधर बहुत दिनों से पिटा नहीं हूँ, लेकिन इसकी नौबत ही न आई। उसने नौकरों को आवाज़ दी और चार आदमी कमरे में घुस आए। उसने कहा, मारो। और मैं समझा कि मुझसे कह रहा है। लिहाज़ा मैंने ताना घूँसा और वह बैठा था सामने। सो घूँसा ठीक उसकी नाक पर पड़ा।

चूड़ामणि : (चौंक कर हाथ ऊपर उठाते हुए)
वेल डन ! शाबाश !
(फिर लिखने लगता है)
लेकिन तुम बच कैसे आए ?

मार्तण्ड : (तूली नीचे रखते हुए)
बात यह हुई कि नौकरों ने सम्हाला उसे, और मैं तसवीर उठा कर वहाँ से भागा। लोग ले-दे करते ही रहे और मैंने सीधे घर पहुंच कर साँस ली।
(कुछ रुक कर)

लेकिन आएगा वह ज़रूर। ग़लती से मैं अपनी तसवीर की जगह उसके बाप की तसवीर, जो उसी दिन विलायत से बन कर आई थी, उठा लाया हूँ।

चूड़ामणि : (लिखते हुए)
खैर, चिन्ता न करो। मैं परमानन्द की सोने की घड़ी उठाकर यह कहता भागा कि अगर दो घण्टे के अन्दर रुपया न दिया तो घड़ी मैं बेच दूँगा।
(जेब से घड़ी निकालकर वह देखता है। बाहर से दरवाज़ा पीटने की आवाज़ आती है। दोनों अपना काम रोककर दरवाज़े की ओर देखते हैं।)

आवाज़ : चूड़ामणि जी।

मार्तण्ड : नहीं है।
(मुँह फेर कर तसवीर बनाने लगता है।)

आवाज़ : मार्तण्ड जी।

चूड़ामणि : नहीं है।
(मुँह फेरकर लिखने लगता है।)

आवाज़ : आप दोनों मौजूद हैं। किवाड़ खोलिए।

दोनों : नहीं खोलेंगे।

आवाज़ : हम दरवाज़ा तोड़ देंगे।

चूड़ामणि : बड़ी खुशी से। आपका दरवाज़ा है।

मार्तण्ड : और अपनी चीज़ अगर आप तोड़ें तो भला हम रोकने वाले कौन होते हैं।

आवाज़ : हम आपसे प्रार्थना करते हैं कि दरवाज़ा खोलिए।

चूड़ामणि : किससे ? चूड़ामणि से या मार्तण्ड से ?

आवाज़ : दोनों से।

मार्तण्ड : दरवाजा खोलने का काम सिर्फ एक आदमी ही कर सकता है।

आवाज़ : अगर आप लोग दरवाज़ा नहीं खोलते तो मैं बाहर से ताला बन्द किए देता हूँ।

चूड़ामणि : ऐसी हालत में दरवाज़ा हमें तोड़ना पड़ेगा।

मार्तण्ड : और नुकसान आपका होगा।

आवाज़ : मार्तण्ड जी, आपसे प्रार्थना करता हूँ कि दरवाज़ा खोलिए।

मार्तण्ड : हाँ, अब तुमने बात ढंग की की।
(मार्तण्ड उठकर जंजीर खोलता है। बुलाकीदास का प्रवेश। मार्तण्ड जंजीर खुली छोड़कर लौटता है और अपनी जगह बैठकर तसवीर बनाने लगता है।)

बुलाकीदास : (बीच कमरे में खड़े होकर)
छः महीने हो गए। मुझे किराया चाहिए।
(दोनों चुप रहते हैं।)

बुलाकीदास : आप लोग सुनते हैं ?

चूड़ामणि : (बुलाक़ीदास की ओर मुड़कडर)
कृपा करके आप बात मार्तण्ड जी से करें।

बुलाकीदास : क्यों ? आपसे क्यों नहीं ?

चूड़ामणि : इसलिए कि आपने किवाड़ खुलवाया है मार्तण्ड से, मेरा किवाड़ अभी तक बन्द है। लिहाज़ा आपको मुझसे बात करने का कोई अधिकार नहीं।
(लिखने लगता है।)

मार्तण्ड : (बुलाकीदास की तरफ़ मुड़कर)
लाला बुलाकीदास, आपने पहले आवाज़ दी चूड़ामणि को। वे यहाँ मौजूद हैं, आप उनसे बातचीत करें।
(तसवीर बनाने लगता है।)

बुलाकीदास : मैं आप दोनों से कहता हूँ कि जब से आप लोग इस कमरे में आए हैं तब से आप लोगों ने एक पैसा भी नहीं दिया। छः महीने हो गए। पचीस रुपये के हिसाब से डेढ़ सौ रुपये होते हैं।

चूड़ामणि : (लिखना बन्द करके बुलाकीदास की ओर घूमता है।)
बिल्कुल झूठ। आपके नाती के मुंडन के निमंत्रण-पत्र पर मंगलाचरण की कविता मैंने लिखी थी, एक महीने का किराया अदा हुआ।
(चूड़ामणि फिर लिखना शुरू कर देता है, बुलाकीदास आश्चर्य से चूड़ामणि की ओर देखता है।)

मार्तण्ड : (तेज़ी से घूमकर)
और आपकी पूजा करने के लिए राधाकृष्ण की तस्वीर मैंने बना दी थी, दूसरे महीने का किराया अदा हुआ।
(यह कहकर तस्वीर बनाने लगता है। बुलाकीदास आश्चर्य से मार्तण्ड को देखता है।)

चूड़ामणि : (घूमकर)
आपके छोटे लड़के के विवाह पर मैंने कवि-सम्मेलन करवा दिया था, तीसरे महीने का किराया यह अदा हुआ।
(कहकर लिखने लगता है। बुलाकीदास आश्चर्य से चूड़ामणि को देखता है।)

मार्तण्ड : (घूमकर)
जन्माष्टमी में आपके मन्दिर की झाँकी मैंने सजवा दी थी, चौथे महीने का किराया वह अदा हुआ।
(कहकर तस्वीर बनाने लगता है। बुलाकीदास आश्चर्य से मार्तण्ड को देखता है, फिर कुछ चुप रहकर)

बुलाकीदास : अजी वाह ! इतने ज़रा-ज़रा से काम के रुपये ? वह तो आपने अपनेपन में कर दिया था।

मार्तण्ड : (तस्वीर बनाता हुआ)
हमने काम तो किया, आप तो बिना काम किए हुए ही रुपया माँगते हैं।

चूड़ामणि : (लिखता हुआ)
और आप भी अपनेपन में किराया जाने दीजिए।

बुलाकीदास : आप लोग अजीब तरह के आदमी हैं। अच्छा यह चार महीने का किराया हुआ। अब दो महीने का किराया दीजिए और मकान खाली कीजिए।

चूड़ामणि : (घूमकर)
संसार का एक महाकवि आपके इस चिड़ियाखानेनुमा मकान में रहा, पाँचवें महीने का किराया वह अदा हुआ।

मार्तण्ड : (घूमकर)
संसार का एक श्रेष्ठ चित्रकार आपके इस जानवरों के रहने काबिल मकान में रहा, छठे महीने का किराया वह अदा हुआ।
(परमानन्द का प्रवेश। उन्हें देखते ही चूड़ामणि उठ खड़ा होता है।)

चूड़ामणि : आइए परमानन्दजी, पधारिए, आपका स्वागत है। अभी-अभी आपकी कीर्ति-कथा पर एक पुराण आरम्भ किया है।
(बैठकर पढ़ता है।)
झूठ, दग़ाबाज़ी, मक्कारी, दुनिया के जितने छलछन्द, नहीं बचे हैं इनसे कोई, धन्य प्रकाशक परमानन्द। इसीलिए हम लिखने बैठे लम्बा-चौड़ा एक पुराण•••।

परमानन्द : (हाथ जोड़ता है)
चूड़ामणिजी, अब बस कीजिए। मैं आपके रुपये लाया हूँ।

चूड़ामणि : (घूमकर)
अच्छा रुपये लाए हैं।
(मुसकराता हुआ रजिस्टर की कविता काटता है)
तो फिर यह पुराण लिखना बन्द किए देता हूँ। परमानन्द जेब से कुछ नोट निकालकर देता है। चूड़ामणि बैठे ही बैठे नोट लेकर बिना गिने उन्हें अपनी जेब में रख लेता है।

परमानन्द : अच्छा, अब मेरी घड़ी ?

चूड़ामणि : (आश्चर्य से परमानन्द को देखता है)
तो आप घड़ी वापस ले जाएँगे ?

परमानन्द : जी हाँ।

चूड़ामणि : बहुत अच्छा।
(बाएँ हाथ से घड़ी निकालकर परमानन्द को देता है, दाहिने हाथ से रजिस्टर पर लिखता है।)
यह लीजिए अपनी घड़ी और यह शुरू हुआ परमानन्द-पुराण।
उनकी बीबी मना रही है हो जाए वह जल्दी राँड़।

परमानन्द : (हाथ जोड़ते हुए)
नहीं, नहीं, यह घड़ी मेरी ओर से आपको भेंट है।
(चूड़ामणि घड़ी वापस लेता है। इसी समय लाला रामनाथ का

प्रवेश। लाला रामनाथ के हाथ में एक चित्र है। मार्तण्ड उठ खड़ा होता है।)

मार्तण्ड : आइए, पधारिए लाला रामनाथ साहेब। कैसे कष्ट करना पड़ा ?

रामनाथ : मार्तण्डजी, आप अपनी तसवीर की जगह मेरे पिताजी का चित्र ले आए हैं। यह लीजिए और मेरे पिताजी का चित्र वापस कीजिए।

मार्तण्ड : अरे हाँ, बड़ी ग़लती हो गई, मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।
(बग़ल से चित्र उठाकर रामनाथ को देता है)
यह लीजिए अपने पिताजी का चित्र।

रामनाथ : (चित्र देखता है, फिर क्रोध में)
यह आपने क्या किया ? नाक ग़ायब कर दी ?

मार्तण्ड : लालाजी, नाक तो आपने अपने पिताजी की कटवा दी, पचास रुपये के चित्र के दाम सात रुपये लगाकर।
(मार्तण्ड सब लोगों की ओर घूमता है)
आप लोग जानते हैं, ये हैं लाला रामनाथ। आपके पिता बड़े दानी थे, बड़े पुण्यात्मा थे, और आप उनके सुपुत्र ने उनकी नाक कटवा दी। आपकी तारीफ़···

रामनाथ : (बात काटकर)
अच्छा, अच्छा। यह तसवीर मैंने ले ली। यह लीजिए पचास रुपये और यह तस्वीर ठीक कर दीजिए।
(रामनाथ मार्तण्ड को नोट देता है। मार्तण्ड बिना गिने ही नोट अपनी जेब में रख लेता है, फिर रामनाथ के हाथ से चित्र लेकर तूली से नाक ठीक कर देता है।)

मार्तण्ड : यह लीजिए उनकी नाक सही सलामत वापस आ गई।
(रामनाथ चित्र लेकर जल्दी-जल्दी जाता है और पीछे-पीछे परमानन्द जाता है।)

बुलाकीदास : अब आपके पास रुपये आ गए हैं। किराया अदा कर दीजिए।

चूड़ामणि : कह तो दिया कि किराया हम लोग दे चुके। अब जब चढ़ेगा तब ले लेना।

बुलाकीदास : किराया चढ़ने की नौबत ही न आवेगी। आप लोग अभी यह मकान ख़ाली कीजिए।

मार्तण्ड : बुलाकीदास, हम आपकी तसवीर बनाकर प्रदर्शनी में भेजेंगे। और आपकी उस तसवीर में आपकी नाक का होना या न होना हमारे इस मकान में रहने या इस मकान से जाने पर निर्भर है।

चूड़ामणि : और अगर हम इस मकान से गए तो परमानन्द-पुराण को हम बुलाकी-पुराण बना देंगे। समझे।

बुलाकीदास : आप दोनों बड़े बदमाश हैं। हम आप लोगों को समझ लेंगे।
(तेज़ी से जाता है। चूड़ामणि उठकर दरवाज़ा बन्द करता है। फिर अपनी जगह बैठकर लिखने लगता है। मार्तण्ड चित्र बनाने लगता है।)

—'मेरे नाटक' से

मुग़लों ने सल्तनत बख़्श दी

हीरोजी को आप नहीं जानते, और यह दुर्भाग्य की बात है। इसका यह अर्थ नहीं कि केवल आपका दुर्भाग्य है, दुर्भाग्य हीरोजी का भी है। कारण, वह बड़ा सीधा-सादा है। यदि आपका हीरोजी से परिचय हो जाय, तो आप निश्चय समझ लें कि आपका संसार के एक बहुत बड़े विद्वान् से परिचय हो गया। हीरोजी को जानने वालों में अधिकांश का मत है कि हीरोजी पहले जन्म में विक्रमादित्य के नवरत्नों में एक अवश्य रहे होंगे और अपने किसी पाप के कारण उनको इस जन्म में हीरोजी की योनि प्राप्त हुई। अगर हीरोजी का आपसे परिचय हो जाय, तो आप यह समझ लीजिये कि उन्हें एक मनुष्य अधिक मिल गया, जो उन्हें अपने शौक में प्रसन्नतापूर्वक एक हिस्सा दे सके।

हीरोजी ने दुनिया देखी है। यहाँ यह जान लेना ठीक होगा कि हीरोजी की दुनिया मौज और मस्ती की ही बनी है। शराबियों के साथ बैठकर उन्होंने शराब पीने की बाज़ी लगाई है और हरदम जीते हैं। अफ़ीम के आदी नहीं हैं; पर अगर मिल जाय तो इतनी खा लेते हैं, जितनी से एक खानदान का खानदान स्वर्ग की या नरक की यात्रा कर सके। भंग पीते हैं तब तक, जब तक उनका पेट न भर जाय। चरस और गाँजे के लोभ में साधु बनते-बनते बच गये। एक बार एक आदमी ने उन्हें संखिया खिला दी थी, इस आशा से कि संसार एक पापी के भार से मुक्त हो जाय; पर दूसरे ही दिन हीरोजी उसके यहाँ पहुँचे। हँसते हुए उन्होंने कहा, "यार, कल का नशा नशा था। राम-दुहाई, अगर आज भी वह नशा करवा देते, तो तुम्हें आशीर्वाद देता।" लेकिन उस आदमी के पास संखिया मौजूद न थी।

हीरोजी के दर्शन प्रायः चाय की दुकान पर हुआ करते हैं। जो पहुँचता है, वह हीरोजी को एक प्याला चाय अवश्य पिलाता है। उस दिन जब हम लोग चाय पीने पहुँचे तो हीरोजी एक कोने में आँखें बन्द किये हुए बैठे कुछ सोच रहे थे, हम लोगों में बातें शुरू हो गईं; और हरिजन आन्दोलन से घूमते-फिरते बात आ पहुँची दानवराज बलि पर। पण्डित गोवर्धन शास्त्री ने आमलेट का टुकड़ा मुँह में डालते हुए कहा, "भाई, यह तो कलियुग है। न किसी में दीन है, न ईमान। कौड़ी-कौड़ी पर लोग बेईमानी करने लग गये हैं। अरे, अब तो लिखकर भी लोग मुकर जाते हैं। एक युग था, जब दानव तक अपने वचन निभाते थे, सुरों और नरों की तो बात ही छोड़ दीजिए। दानवराज बलि ने

वचनवद्ध होकर सारी पृथ्वी दान कर दी थी। पृथ्वी ही काहे को, स्वयं अपने को भी दान कर दिया था।"

हीरोजी चौंक उठे। खाँसकर उन्होंने कहा, "क्या बात है? ज़रा फिर से तो कहना।"

सब लोग हीरोजी की ओर घूम पड़े। कोई नई बात सुनने को मिलेगी, इस आशा से मनोहर ने शास्त्रीजी के शब्दों को दुहराने का कष्ट उठाया, "हीरोजी! ये गोवर्धन शास्त्रीजी हैं, सो कह रहे हैं कि कलियुग में धर्म-कर्म सब लोप हो गया। त्रेता में तो दैत्य-राज बलि तक ने अपना सब-कुछ केवल वचनवद्ध होकर दान कर दिया था।"

हीरोजी हँस पड़े, "हाँ, तो यह गोवर्धन शास्त्री कहने वाले हुए और तुम लोग सुननेवाले, ठीक ही है। लेकिन हमसे सुनो, यह तो कह रहे हैं त्रेता की बात, अरे, तब तो अकेले बलि ने ऐसा कर दिया था। लेकिन मैं कहता हूँ कलियुग की बात। कलियुग में तो एक आदमी की कही हुई बात को उसकी सात-आठ पीढ़ी तक निभाती गईं और यद्यपि वह पीढ़ी स्वयं नष्ट हो गई, लेकिन उसने अपना वचन नहीं तोड़ा।"

हम लोग आश्चर्य में आ गये। हीरोजी की बात समझ में नहीं आई, पूछना पड़ा, "हीरोजी, कलियुग में किसने इस प्रकार अपने वचनों का पालन किया है?"

"लौंडे हो न!" हीरोजी ने मुँह बनाते हुए कहा, "जानते हो, मुग़लों की सल्तनत कैसे गई?"

"हाँ। अंग्रेज़ों ने उनसे छीन ली।"

"तभी तो कहता हूँ कि तुम सब लोग लौंडे हो। स्कूली किताबों को रट-रटकर बन गये पढ़े-लिखे आदमी। अरे, मुग़लों ने अपनी सल्तनत अंग्रेजों को बख्श दी।"

हीरोजी ने यह कौन-सा नया इतिहास बनाया? आँखें कुछ अधिक खुल गईं। कान खड़े हो गये। मैंने कहा, "सो कैसे?"

"अच्छा तो फिर सुनो।" हीरोजी ने आरम्भ किया, "जानते हो, शाहंशाह शाहजहाँ की लड़की शाहज़ादी रौशनआरा एक दफ़े बीमार पड़ी थी, और उसे एक अंग्रेज़ डाक्टर ने अच्छा किया था। उस डाक्टर को शाहंशाह शाहजहाँ ने हिन्दुस्तान में तिजारत करने के लिए कलकत्ते में कोठी बनाने की इजाज़त दे दी थी।"

"हाँ, यह तो हम लोगों ने पढ़ा है।"

"लेकिन असल बात यह है कि शाहज़ादी रौशनआरा—वही शाहंशाह शाहजहाँ की लड़की—हाँ, वही शाहज़ादी रौशनआरा एक दफ़े जल गई। अधिक नहीं जली थी। अरे, हाथ में थोड़ा-सा जल गई थी, लेकिन जल तो गई थी और थी शाहज़ादी। बड़े-बड़े हकीम और वैद्य बुलाये गए। इलाज किया गया; लेकिन शहज़ादी को कोई अच्छा न कर सका, न कर सका। और शाहज़ादी को भला अच्छा कौन कर सकता था? वह शाह-ज़ादी थी न। सब लोग लगाते थे लेप, और लेप लगाने से होती थी जलन। और तुरन्त शाहज़ादी ने धुलवा डाला उस लेप को। भला शाहज़ादी को रोकने वाला कौन था? अब शाहंशाह सलामत को फ़िक्र हुई। लेकिन शाहज़ादी अच्छी हो तो कैसे? वहाँ तो दवा असर करने ही न पाती थी।

"उन्हीं दिनों एक अंग्रेज़ घूमता-घामता दिल्ली आया। दुनिया देखे हुए, घाट-घाट का पानी पिये हुए, पूरा चालाक और मक्कार! उसको शाहज़ादी की बीमारी की खबर लग गई। नौकरों को घूस देकर उसने पूरा हाल दरियाफ़्त किया। उसे मालूम

हो गया कि शाहज़ादी जलन की वजह से दवा धुलवा डाला करती है। सीधे शाहंशाह सलामत के पास पहुँचा। कहा कि डाक्टर हूँ। शाहज़ादी का इलाज उसने अपने हाथ में ले लिया। उसने शाहज़ादी के हाथ में दवा लगाई। उस दवा से जलन होना तो दूर रहा, उल्टे जले हुए हाथ में ठंडक पहुँची। अब भला शाहज़ादी उस दवा को क्यों धुलवाती। हाथ अच्छा हो गया। जानते हो वह दवा क्या थी?" हम लोगों की ओर भेदभरी दृष्टि डालते हुए हीरोजी ने पूछा।

"भाई, हम दवा क्या जानें?" कृष्णानन्द ने कहा।

"तभी तो कहते हैं कि इतना पढ़-लिखकर भी तुम्हें तमीज़ न आई। अरे वह दवा थी वेसलीन, वही वेसलीन, जिसका आज घर-घर में प्रचार है।"

"वेसलीन! लेकिन वेसलीन तो दवा नहीं होती।" मनोहर ने कहा।

हीरोजी सम्हलकर बैठ गए। फिर बोले, "कौन कहता है कि वेसलीन दवा होती है? अरे, उसने हाथ में लगा दी वेसलीन और घाव आप ही आप अच्छा हो गया। वह अंग्रेज़ बन बैठा डाक्टर और उसका नाम हो गया। शाहंशाह शाहजहाँ बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने उस फिरंगी डाक्टर से कहा, "माँगो।" उस फिरंगी ने कहा, "हुज़ूर, मैं इस दवा को हिन्दुस्तान में रायज़ करना चाहता हूँ, इसलिए हुज़ूर, मुझे हिन्दुस्तान में तिजारत करने की इजाज़त दे दें।" बादशाह सलामत ने जब यह सुना कि डाक्टर हिन्दुस्तान में इस दवा का प्रचार करना चाहता है, तो बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा, "मंजूर। और कुछ माँगो।" तब उस चालाक डाक्टर ने जानते हो क्या माँगा? उसने कहा, "हुज़ूर, मैं एक तम्बू तानना चाहता हूँ, जिसके नीचे इस दवा के पीपे इकट्ठे किये जावेंगे। जहाँपनाह, यह फरमा दें कि उस तम्बू के नीचे जितनी ज़मीन आवेगी, वह जहाँपनाह ने फिरंगियों को बख्श दी।" शाहंशाह शाहजहाँ थे सीधे-सादे आदमी, उन्होंने सोचा, तम्बू के नीचे भला कितनी जगह आवेगी! उन्होंने कह दिया, "मंजूर।"

हाँ, तो शाहंशाह शाहजहाँ थे सीधे-सादे आदमी, छल-कपट उन्हें आता न था। और वह अंग्रेज़ था दुनिया देखे हुए। सात समुद्र पार करके हिन्दुस्तान आया था न। पहुँचा विलायत, वहाँ उसने बनवाया रबड़ का एक बहुत बड़ा तम्बू और जहाज़ पर तम्बू लदवाकर चल दिया हिन्दुस्तान। कलकत्ते में उसने वह तम्बू लगवा दिया। वह तम्बू कितना ऊँचा था, इसका अन्दाज़ आप नहीं लगा सकते। उस तम्बू का रंग नीला था। तो जनाब वह तम्बू लगा कलकत्ते में और विलायत से पीपे पर पीपे लद-लदकर आने लगे। उन पीपों में वेसलीन की जगह भरा था एक अंग्रेज़ जवान, मय बन्दूक और तलवार के। सब पीपे तम्बू के नीचे रखवा दिए गए। जैसे-जैसे पीपे ज़मीन घेरने लगे वैसे-वैसे तम्बू को बढ़ा-बढ़ाकर ज़मीन घेर दी गई। तम्बू तो रबड़ का था न, जितना बढ़ाया, बढ़ गया। अब जनाब तम्बू पहुँचा पलासी। तुम लोगों ने पढ़ा होगा कि पलासी का युद्ध हुआ था। अरे सब झूठ है। असल में तम्बू बढ़ते-बढ़ते पलासी पहुँचा था, और उस वक्त मुग़ल बादशाह का हरकारा दौड़ा था दिल्ली। बस यह कह दिया गया कि पलासी की लड़ाई हुई। जी हाँ, उस वक्त दिल्ली में शाहंशाह शाहजहाँ की तीसरी या चौथी पीढ़ी सल्तनत कर रही थी। हरकारा जब दिल्ली पहुँचा उस वक्त बादशाह सलामत की सवारी निकल रही थी। हरकारा घबराया हुआ था। वह इन फिरंगियों की चालों से हैरान था। उसने मौका देखा न महल, वहीं सड़क पर खड़े होकर उसने चिल्लाकर कहा, "जहाँपनाह, ग़ज़ब हो गया। ये बदतमीज़ फिरंगी अपना तम्बू पलासी

तक खींच लाये हैं, और चूंकि कलकत्ते से पलासी तक की ज़मीन तम्बू के नीचे आ गई है, इसलिए इन फिरंगियों ने उस ज़मीन पर क़ब्ज़ा कर लिया है। जो इनको मना किया तो इन बदतमीज़ों ने शाही फरमान दिखा दिया।" बादशाह सलामत की सवारी रुक गई थी। उन्हें बुरा लगा। उन्होंने हरकारे से कहा, "म्याँ हरकारे, मैं कर ही क्या सकता हूँ। जहाँ तक फिरंगियों का तम्बू घिर जाय, वहाँ तक की जगह उनकी हो गई, हमारे बुजुर्ग यह कह गए हैं।" बेचारा हरकारा अपना-सा मुँह लेकर वापस आ गया।

हरकारा लौटा, और इन फिरंगियों का तम्बू बढ़ा। अभी तक तो आते थे पीपों में आदमी, अब आने लगा तरह-तरह का सामान। हिन्दुस्तान का व्यापार फिरंगियों ने अपने हाथ में ले लिया। तम्बू बढ़ता ही रहा और पहुँच गया बक्सर। इधर तम्बू बढ़ा और उधर लोगों की घबराहट बढ़ी। यह जो किताबों में लिखा है कि बक्सर की लड़ाई हुई, यह ग़लत है भाई, जब तम्बू बक्सर पहुँचा, तो फिर हरकारा दौड़ा।

अब ज़रा बादशाह सलामत की बात सुनिये। वह जनाब दीवान खास में तशरीफ रख रहे थे। उनके सामने सैकड़ों, बल्कि हज़ारों मुसाहब बैठे थे। बादशाह सलामत हुक्का गुड़गुड़ा रहे थे। सामने एक साहब जो शायद शायर थे, कुछ गा-गाकर पढ़ रहे थे और कुछ मुसाहब गला फाड़-फाड़कर 'वाह-वाह' चिल्ला रहे थे। कुछ लोग तीतर और बटेर लड़ा रहे थे। हरकारा जो पहुँचा तो यह सब बन्द हो गया। बादशाह सलामत ने पूछा "म्याँ हरकारे, क्या हुआ ? इतने घबराए हुए क्यों हो ?" हाँफते हुए हरकारे ने कहा, "जहाँपनाह, इन बदज़ात फिरंगियों ने अंधेर मचा रखा है। वह अपना तम्बू बक्सर खींच लाए।" बादशाह सलामत को बड़ा ताज्जुब हुआ। उन्होंने अपने मुसाहबों से पूछा, "म्याँ, हरकारा कहता है कि फिरंगी अपना तम्बू कलकत्ते से बक्सर तक खींच लाए। यह कैसे मुमकिन है ?" इस पर एक मुसाहब ने कहा, "जहाँपनाह, ये फिरंगी जादू जानते हैं, जादू।" दूसरे ने कहा, "जहाँपनाह, इन फिरंगियों ने जिन्नात पाल रखे हैं। जिन्नात सब-कुछ कर सकते हैं।" बादशाह सलामत की समझ में कुछ आया नहीं। उन्होंने हरकारे से कहा, "म्याँ हरकारे, तुम बतलाओ यह तम्बू किस तरह बढ़ आया ?" हरकारे ने समझाया कि तम्बू रबड़ का है। इस पर बादशाह सलामत बड़े खुश हुए। उन्होंने कहा, "ये फिरंगी भी बड़े चालाक हैं, पूरे अक़्ल के पुतले हैं।" इस पर सब मुसाहबों ने एक स्वर में कहा, "इसमें क्या शक है, जहाँपनाह बजा फरमाते हैं।" बादशाह सलामत मुसकराए, "अरे भाई, किसी चोबदार को भेजो, जो इन फिरंगियों के सरदार को बुला लावे। मैं उसे खिलअत दूंगा।" सब मुसाहब कह उठे, "वल्लाह ! जहाँपनाह एक ही दरियादिल हैं ! इस फिरंगी सरदार को जरूर खिलअत देनी चाहिए।" हरकारा घबराया। वह आया था शिकायत करने, यहाँ बादशाह सलामत फिरंगी सरदार को खिलअत देने पर आमादा थे। वह चिल्ला उठा, "जहाँ-पनाह ! इन फिरंगियों ने जहाँपनाह की सल्तनत का एक बहुत बड़ा हिस्सा अपने तम्बू के नीचे करके उस पर क़ब्जा कर लिया है। जहाँपनाह, ये फिरंगी जहाँपनाह की सल्तनत छीनने पर आमादा दिखाई देते हैं।" मुसाहब चिल्ला उठे, "ऐ ! ऐसा ग़ज़ब !" बादशाह सलामत की मुसकराहट ग़ायब हो गई। थोड़ी देर तक सोचकर उन्होंने कहा, "मैं क्या कर सकता हूँ ? हमारे बुजुर्ग इन फिरंगियों को उतनी जगह दे गए हैं जितनी तम्बू के नीचे आ सके। भला मैं उसमें कर ही क्या सकता हूँ ? हाँ, फिरंगी सरदार को खिलअत न दूंगा।" इतना कहकर बादशाह सलामत फिरंगियों की

चालाकी अपनी बेग़मात से बतलाने के लिए हरम के अन्दर चले गए। हरकारा बेचारा चुपचाप लौट आया।

जनाब ! उस तम्बू ने बढ़ना जारी रखा। एक दिन क्या देखते हैं कि विश्वनाथपुरी काशी के ऊपर वह तम्बू तन गया। अब तो लोगों में भगदड़ मच गई। उन दिनों राजा चेतसिंह बनारस की देखभाल करते थे। उन्होंने उसी वक़्त बादशाह सलामत के पास हरकारा दौड़ाया। वह दीवाने खास में हाज़िर किया गया। हरकारे ने बादशाह सलामत से अर्ज़ की कि वह तम्बू बनारस पहुँच गया है और तेज़ी के साथ दिल्ली की तरफ़ आ रहा है। बादशाह सलामत चौंक उठे। उन्होंने हरकारे से कहा, "तो म्याँ हरकारे, तुम्हीं बतलाओ, क्या किया जाय ?" वहाँ बैठे हुए दो-एक उमराओं ने कहा, "जहाँपनाह, एक बड़ी फ़ौज भेजकर इन फिरंगियों का तम्बू छोटा करवा दिया जाय और कलकत्ते भेज दिया जाय। हम लोग जाकर लड़ने को तैयार हैं। जहाँपनाह का हुक्म-भर हो जाय। इस तम्बू की क्या हक़ीक़त है, एक मर्तबा आसमान को भी छोटा कर दें।" बादशाह सलामत ने कुछ सोचा, फिर उन्होंने कहा, "क्या बतलाऊँ, हमारे बुजुर्ग शाहंशाह शाहजहाँ इन फिरंगियों को तम्बू के नीचे जितनी जगह आ जाय, वह बख्श गए हैं। बख्शीशनामा की रूह से हम लोग कुछ नहीं कर सकते। आप जानते हैं, हम लोग अमीर तैमूर की औलाद हैं। एक दफ़ा जो ज़बान दे दी, वह दे दी। तम्बू का छोटा कराना तो ग़ैर-मुमकिन है। हाँ, कोई ऐसी हिकमत निकाली जाय जिससे ये फिरंगी अपना तम्बू आगे न बढ़ा सकें। इसके लिए दरबारे आम किया जाय और यह मसला वहाँ पेश हो।"

इधर दिल्ली में तो बातचीत हो रही थी और उधर इन फिरंगियों का तम्बू इलाहाबाद, इटावा ढँकता हुआ आगरे पहुँचा। दूसरा हरकारा दौड़ा। उसने कहा, "जहाँपनाह, वह तम्बू आगरे तक बढ़ आया है। अगर अब भी कुछ नहीं किया जाता, तो ये फिरंगी दिल्ली पर भी अपना तम्बू तानकर क़ब्ज़ा कर लेंगे।" बादशाह सलामत घबराए। दरबारे आम किया गया। सब अमीर-उमरा इकट्ठे हो गए तो बादशाह सलामत ने कहा, "आज हमारे सामने एक अहम मसला पेश है। आप लोग जानते हैं कि हमारे बुज़ुर्ग शाहंशाह शाहजहाँ ने फिरंगियों को इतनी ज़मीन बख्श दी थी जितनी उनके तम्बू के नीचे आ सके। इन्होंने अपना तम्बू कलकत्ते में लगवाया था; लेकिन वह तम्बू है रबड़ का, और धीरे-धीरे ये लोग तम्बू आगरे तक खींच लाए। हमारे बुज़ुर्गों से जब यह कहा गया, तब उन्होंने कुछ करना मुनासिब न समझा; क्योंकि शाहंशाह शाहजहाँ अपना क़ौल हार चुके हैं। हम लोग अमीर तैमूर की औलाद हैं और अपने क़ौल के पक्के हैं। अब आप लोग बतलाइए, क्या किया जाए।" अमीरों और मंसबदारों ने कहा, "हमें इन फिरंगियों से लड़ना चाहिए और इनको सजा देनी चाहिए। इनका तम्बू छोटा करवाकर कलकत्ते भिजवा देना चाहिए।" बादशाह सलामत ने कहा, "लेकिन हम अमीर तैमूर की औलाद हैं। हमारा क़ौल टूटता है।" इसी समय तीसरा हरकारा हाँफता हुआ बिना इत्तला कराए ही दरबार में घुस आया। उसने कहा, "जहाँपनाह, वह तम्बू दिल्ली पहुँच गया। वह देखिए, क़िले तक आ पहुँचा।" सब लोगों ने देखा। वास्तव में हज़ारों गोरे खाकी वर्दी पहने और हथियारों से लैस, बाजा बजाते हुए तम्बू को क़िले की तरफ खींचते हुए आ रहे थे। उस वक़्त बादशाह सलामत उठ खड़े हुए। उन्होंने कहा, "हमने तै कर लिया। हम अमीर तैमूर की

औलाद हैं। हमारे बुज़ुर्गों ने जो कुछ कह दिया, वही होगा। उन्होंने तम्बू के नीचे की जगह फिरंगियों को बख्श दी थी। अब अगर दिल्ली भी उस तम्बू के नीचे आ रही है, तो आवे। मुग़ल सल्तनत जाती है तो जाय, लेकिन दुनिया यह देख ले कि अमीर तैमूर की औलाद हमेशा अपने क़ौल की पक्की रही है।" इतना कहकर बादशाह सलामत मय अपने अमीर-उमरावों के दिल्ली के बाहर हो गए और दिल्ली पर अंग्रेज़ों का क़ब्ज़ा हो गया। अब आप लोग देख सकते हैं, इस कलियुग में भी मुग़लों ने अपनी सल्तनत बख्श दी।"

हम सब लोग थोड़ी देर तक चुप रहे। इसके बाद मैंने कहा, "हीरोजी, एक प्याला चाय और पियो।"

हीरोजी बोल उठे, "इतनी अच्छी कहानी सुनाने के बाद भी एक प्याला चाय? अरे, महुवे के ठर्रे का एक अद्धा तो हो जाता।"

दोस्त एक भी नहीं जहाँ पर

दोस्त एक भी नहीं जहाँ पर, सौ सौ दुश्मन जान के,
उस दुनिया में बड़ा कठिन है चलना सीना तान के।

उखड़े उखड़े आज दिख रहे हैं तुमको जो यार हम,
यह न समझ लेना जीवन का दाँव गये हैं हार हम।
वही स्वप्न नयनों में, मन में वही अडिग विश्वास है,
खो बैठे हैं किन्तु अचानक अपना ही आधार हम।

इस दुनिया में जहाँ लोग हैं बड़े आन के, बान के,
हम तो देख रहे हैं तेवर दो दिन के मेहमान के।

डगमग अपने चरण स्वयं ही, इतना हमको ज्ञान है,
निज मस्तक की सीमा से भी अपनी कुछ पहचान है।
पर सक्षम है कौन यहाँ पर? या किसमें सामर्थ्य है?
हमने तो पायी आँसू से भीगी हर मुसकान है।

मृत्यु चुनौती जहाँ दे रही है जीवन को हर तरफ़,
कुछ अजीब से खेल वहाँ पर मान और अपमान के।

वह मानव वैसा ही भोला, वैसा ही कमज़ोर है,
और नियति की अनजानी-सी वैसी कठिन हिलोर है।
किन्तु मिटाने का, मिटने का क्रम है बेहद बढ़ गया,
और बढ़ गया यारो बेहद इस दुनिया का शोर है।

हमको लगता आ पहुँचे हैं हम मरघट के देश में
लोग जहाँ पर पागल बनकर आदी हैं विषपान के।

युगों युगों से यह मानव है उठता-गिरता चल रहा,
यह प्राणों का दीप यहाँ पर बुझ-बुझकर फिर जल रहा,
यहाँ चेतना अमर, भावना अमर, अमर विश्वास है,
इसी अमरता की छाया में प्रेम निरन्तर पल रहा।

किन्तु घृणा से दूषित, हिंसा से सहमी हर साँस है,
और पहन रक्खे हैं हम सब ने जामे शैतान के।

यह भी है क्या बात कि इस पर सर पटकें हम व्यर्थ ही ?
और देखते रहें दूसरों के हम सदा अनर्थ ही ?
एक दर्द जो उठ पड़ता है कभी-कभी, वह भूल है,
सच तो यह, हम नहीं जानते हार जीत का अर्थ ही।

वैसे वैभव और सफलता से हमको भी मोह है,
पर क्या करें ? कि हम क़ायल हैं धर्म और ईमान के,
हमको तो चलना आता है केवल सीना तान के।

सबहिं नचावत राम गोसाईं

प्रदेश के आबकारी मंत्री सैयद फ़रहतअली 'फ़रहत' की पैंतीसवीं सालगिरह मनाने वाली उस छोटी-सी गोष्ठी में लखनऊ के कुल पैंतीस चुने हुए आदमी बुलाये गए थे। उनमें सात राजनीतिक नेता थे, सात ऊँचे अफ़सर थे, सात अदद मिले-जुले कवि और शायर थे, और सात मुतफ़र्रिक़ आदमी जिनमें दो फ़रहतअली साहब के दोस्त थे और पाँच कुन्दनलाल के दोस्त थे। यह गोष्ठी कुन्दनलाल के ड्राइंग-रूम में हो रही थी, एक्साइज़ कमिश्नर की सहायता से मुहैया की हुई स्कॉच ह्विस्की की बारह बोतलें उनके ड्राइंग-रूम में मय सोडावाटर की बोतलों के रखी थीं जहाँ अतिथिगण समय-समय पर जाकर अपनी प्यास शान्त करते थे और फिर गोष्ठी में जम जाते थे। इस गोष्ठी के बाद एक शानदार दावत का इन्तज़ाम था और जहाँ खाना बनाने के लिए लखनऊ के अच्छे-से-अच्छे रसोइये बुलाए गए थे।

क़रीब नौ बजे फ़रहतअली 'फ़रहत' अपनी ग़ज़ल पढ़ने को उठे। अतिथियों ने तालियाँ बजाईं और फ़रहत साहेब ने मतला पढ़ा। पाँच मिनट तक मतले पर दाद मिलती रही और इस शोर-शराबे में कुन्दनलाल ने राधेश्याम की कार की आवाज़ ही नहीं सुनी जिसने उसी समय बँगले में प्रवेश किया। उस कार में राधेश्याम अकेले नहीं थे, उनके साथ मेवालाल भी थे जिन्हें मेडिकल कालेज में दिखाने के लिए राधेश्याम अपने साथ ले आए थे। इस शोर को सुनकर मेवालाल ने कहा, "मालूम होता है इहाँ लोग शराब पी के हुल्लड़ मचाय रहे हैं। इस कुन्दनवा के लच्छन हमें अच्छे नहीं दिखाई देते।"

कार के रुकते ही एक नौकर उधर दौड़ा और एक नौकर राधेश्याम के आने की सूचना देने के लिए कुन्दनलाल के पास दौड़ा। राधेश्याम ने कार से उतरते हुए कहा, "बाबू, तुम कमरे में चलो, हल्ला मत करना और गाली-वाली न देना, हम देखते हैं जाकर वहाँ कि क्या हो रहा है।"

राधेश्याम के आने की खबर पाकर कुन्दनलाल धर्मसंकट के पड़ गया। उसके उठकर जाने से सैयद फ़रहतअली 'फ़रहत' का अपमान होता और न जाने से राधेश्याम का अपमान होता। लेकिन कुशल और अनुभवी राधेश्याम ने स्थिति सँभाल ली, वह चुपके-से आकर कुन्दनलाल के पास बैठ गए और उन्होंने कुन्दलाल से सारी स्थिति

समझ ली। फ़रहत साहेब की ग़ज़ल समाप्त होने पर राधेश्याम ने उठकर फ़रहतअली सैयद साहेब को गले लगाकर उनकी सालगिरह पर मुबारिकबाद दिया और फिर बोले, "क्या बतलाऊँ, कानपुर में गंगा के पुल पर जाना था तो वहीं एक घण्टे की देर हो गई, यह भाग्य था कि आपकी ग़ज़ल के वक़्त में आ पहुँचा। कुन्दनलाल से मैंने कह दिया था कि मैं वक्त से पहुँच जाऊँगा।"

सैयद फ़रहतअली 'फ़रहत' राधेश्याम की इस बात से गद्‌गद हो गए, उन्होंने राधेश्याम का हाथ अपने हाथ में लेते हुए कहा, "आपने यहाँ तशरीफ लाकर मुझे इज़्ज़त बख्शी, मैं तहेदिल से आपका शुक्रगुज़ार हूँ। इस कुन्दन को क्या कहूँ, ज़िद पकड़ गया मेरी पैंतीसवीं सालगिरह मनाने पर। लेकिन इसने इस जश्न से मुझे यह याद दिला दिया कि मैं शायर पहले हूँ, मिनिस्टर बाद में।"

"इसमें क्या शक़। शायर की हैसियत से तो आप अमर हैं। सुना है शायरों और साहित्यकारों का जो शिष्टमण्डल यूरोप और अमेरिका हमारी सरकार की तरफ़ से जाने वाला है, उसमें आप भी शामिल हैं।"

सैयद साहेब ने अपनी अगल-बग़ल देखा, एक भीड़ उन्हें घेरे खड़ी थी। उन्होंने कहा, "बाथरूम किधर है?"

राधेश्याम समझ गया, उसने कहा, "चलिए, मैं आपको लिए चलता हूँ।" और फ़रहतअली के साथ वह बग़ल वाले बैड-रूम में चला गया। भीड़ से फुरसत पाकर फ़रहतअली बोले, "क्या बताऊँ, उत्तर प्रदेश सरकार ने तो प्रदेश के अदीब की हैसियत से मेरा नाम भेजा था, लेकिन वह दिल्ली सरकार का कल्चर मिनिस्टर गटगटे—उस हरामज़ादे ने मेरा नाम काट दिया यह कहकर कि मैं मिनिस्टर हूँ, इसमें सरकार की बदनामी होगी। मैंने तो मिनिस्टरी से इस्तीफ़ा देने का फ़ैसला कर लिया था, लेकिन मुख्यमंत्री ज़िद पकड़ गये कि मैं इस्तीफ़ा न दूँ। उन्होंने मुझसे कहा कि मैं अपनी जगह किसी दूसरे आदमी को नामज़द कर दूँ। तो मैंने कुन्दनलाल का नाम भिजवा दिया है।" फिर कुछ खँखारकर उन्होंने कहा, "वह पीलीभीत में ब्रिवरी खोलने के मसले पर आपने ग़ौर किया?"

राधेश्याम बोला, "क्या बतलाऊँ, मेरे वालिद इस प्रपोज़ल पर राज़ी नहीं होते; वह वैष्णव आदमी ठहरे—कहते हैं कि शराब का धन्धा ग़लत होगा। लेकिन वह आपके खालूज़ाद भाई मिले थे मुझसे, तो मैंने उनसे कह दिया है ब्रिवरी वह खोल लें, लाख-दो लाख रुपया मैं लगा दूंगा। यह रुपया बिना किसी लिखा-पढ़ी के लगेगा—जब काम चल निकले, मुझे वापस हो जाएगा।"

फ़रहतअली ने राधेश्याम का हाथ दबाया, "शुक्रिया।"

उधर कमरे में पहुँचकर मेवालाल की बेचैनी बढ़ने लगी। गोश्त और शराब की भभक से उसे लग रहा था कि उसका सर फट जायगा। इन दिनों मेवालाल वास्तव में भक्त आदमी बन गया था। उसका अधिकांश समय अब राधेश्याम के ठाकुरद्वारे में, ठाकुरजी की पूजा करने में तथा तहखाने में सोना और चाँदी के रूप में बैठी लक्ष्मी-जी की सेवा में बीतता था। वैसे भी वह ऊँचे ब्लडप्रेशर का मरीज़ था—उसने प्याज़ खाना भी छोड़ दिया था। कुछ देर तक वह अपने कमरे में बैठा हुआ तुलसी की माला जपता रहा, पर उसका मन नहीं लगा और वह उठ खड़ा हुआ। उसके कमरे का एक दरवाज़ा डाईनिंग-रूम में खुलता था—उसने दरवाज़ा खोला। वहाँ पाँच-छः आदमी

स्काँच का आखिरी दौर ढाल रहे थे और घबराकर उसने दरवाज़ा बन्द कर दिया। फिर पीछे की तरफ़ का दरवाज़ा खोलकर वह सहन की तरफ़ निकला और ताज़ी हवा में आकर उसे कुछ शान्ति मिली। लेकिन सहन में भी बिजली जल रही थी, और उसने देखा कि एक झाड़ी के पास मुर्गी के पंख पड़े हैं और थोड़ी दूर पर दो मुसलमान बावर्ची बीड़ी पी रहे हैं।

मेवालाल को लगा कि उसे कै हो जाएगी, वहाँ से भागकर वह फिर अपने कमरे में घुस गया। तो हालत यहाँ तक पहुँच गई है! वैष्णव के घर में इतना भ्रष्टाचार! उसका खून खौलने लगा। लेकिन यह मौका नहीं था हिसाब-किताब समझने-समझाने का, नौकर ने उसे बतला दिया था कि मंत्री जी और बड़े-बड़े अफ़सर आए हुए हैं।

दस बजे रात के समय जब सब लोग चले गए, मेवालाल ने राधेश्याम से कहा, "क्यों रे राधे! इस कुन्दन को तैंने यह सब भ्रष्टाचार और पाप फैलाने के लिए लखनऊ में बैठा दीना है।" और कुन्दनलाल की तरफ़ घूमकर बोले, "क्यों रे हरामज़ादे, इस मकान को तैंने नरक बनाय दीना है—इसमें रहकर सब धरम नष्ट हो जाय। इस मकान को अभी धुलवाना पड़ेगा।"

राधेश्याम अपने पिता की भावना को समझता था, फिर मेवालाल आखिरकार उसके पिता ही थे, वह चुप लगा गए। लेकिन कुन्दनलाल को मेवालाल की गाली अखर गई, वह अब मिनिस्टरों से मिलता था, बड़े-बड़े अफ़सर उसके दोस्त थे। उसने उलटकर कहा, "यह मकान हमारा है, हम जैसा चाहें करेंगे। और गाली-वाली दीजिए आप जीजाजी को, हम गाली सुनने वाले नहीं हैं।"

मेवालाल एकाएक उठ खड़े हुए, "इस हरामज़ादे की यह मजाल कि हमें जवाब दे। राधे, इसकी ज़बान क्यों नहीं खींच लेता—निकम्मा कहीं का।"

राधेश्याम इस बार भी मौन रहा, यही नहीं, वह कमरे के बाहर चला गया।

मेवालाल का क्रोध अपनी सीमा को पार कर गया था, उन्होंने ऊँचे स्वर में कहा, "अच्छी बात है, अब हम इस मकान में एक मिनट भी नहीं ठहर सकते।" और गुस्से में काँपते हुए वह दरवाज़े की ओर बढ़े। लेकिन दो क़दम चलने के बाद ही वह लड़खड़ाकर गिर पड़े—उन्होंने चिल्लाना चाहा लेकिन उनके मुँह से आवाज़ नहीं निकली, उन्होंने उठना चाहा, लेकिन उन्हें लगा कि उनका शरीर सुन्न रह गया है। फटी-फटी आँखों से वह अपने चारों ओर देख रहे थे।

घर के सब लोग एकत्रित हो गए—उसी समय डाक्टर बुलवाए गए, और डाक्टरों ने एक स्वर में ऐलान किया कि मेवालाल को लकवा मार गया है, उसी समय वह मेडिकल कालेज में भर्ती कर दिए गए।

राधेश्याम और कुन्दनलाल—दोनों ने ही मेवालाल के पैर पकड़कर उनसे माफ़ी माँगी, लेकिन अब क्या होना था, लकवा तो उन्हें मार ही गया था। मेवालाल की पत्नी और उसका छोटा लड़का सीताराम—दोनों ही दूसरे दिन आ गए।

फ़रहतअली 'फ़रहत' ने अपनी बात रखी और दो महीने के बाद कुन्दनलाल देश के विशिष्ट साहित्यकारों एवं कलाकारों के शिष्टमण्डल में सम्मिलित होकर विदेश चला गया। इस शिष्टमण्डल को तीन महीने के लिए विदेश भेजा गया, लेकिन लौटने के समय राधेश्याम के आदेश के अनुसार कुन्दनलाल पश्चिमी

जर्मनी में रुक गया। राधेश्याम की लिखा-पढ़ी बिजली का सामान बनाने वाली एक कम्पनी से चल रही थी जिसके साझे में राधेश्याम कानपुर में बिजली के बड़े सामान की एक फैक्टरी खोलना चाहता था। कुन्दनलाल ने यह सौदा पक्का कर लिया, मशीनें और तकनीकी सहायता जर्मनी से मिलेंगी चालीस प्रतिशत लागत के रूप में, साठ प्रतिशत पूंजी राधेश्याम हिन्दुस्तान की लगायेगा। कुन्दनलाल ने तार द्वारा इस सौदे की सूचना राधेश्याम को दी और सूचना पाते ही राधेश्याम जर्मनी के लिए रवाना हो गया। बहुत बड़ा सौदा तै करवा दिया था कुन्दनलाल ने, पाँच करोड़ की लागत का एक कारखाना—राधेश्याम की गणना अब भारतवर्ष के प्रमुख उद्योगपतियों में होने लगेगी।

राधेश्याम और कुन्दनलाल दोनों साथ-साथ वापस लौटे। और जैसे मेवालाल अपने पुत्र के लौटने की प्रतीक्षा ही कर रहे थे। छह महीने की बीमारी भोगने के बाद मेवालाल अपने जीवन से मुक्ति पा गए। उनके दोनों लड़के, उनकी दोनों बहुएँ, उनकी पत्नी और उनके पौत्र-पौत्रियाँ उनके सिरहाने थे, दस लाख रुपए दान करवाये गए मेवालाल के हाथ से ताकि उनके स्वर्गलोग में जाने में किसी तरह की बाधा न पड़े, और इस दस लाख रुपए की रकम से राधेश्याम ने कानपुर में मेवा इन्स्टीट्यूट आफ़ पैरे-लिसिस खोला। इस इन्स्टीट्यूट का उद्घाटन राधेश्याम ने प्रदेश के गृहमंत्री ठाकुर जबर-सिंह के हाथों करवाया।

वैसे ठाकुर जबरसिंह प्रदेश के गृहमंत्री होने के साथ-साथ अपनी पार्टी के सर्वेसर्वा थे और इसलिए वह मौक़े-बेमौक़े मुख्यमंत्री की शक्तियों का भी उपयोग कर लेते थे। इस इन्स्टीट्यूट का उद्घाटन कर लेने के बाद जब वह राधेश्याम के यहाँ डिनर खाने पहुँचे तब राधेश्याम ने उनसे जर्मन फ़र्म से अपने सौदे का ज़िक्र करते हुए सरकार की सहायता चाही। प्रादेशिक सरकार एक करोड़ के शेयर ले ले तथा तीन वर्ष के अन्दर डेढ़ करोड़ का क़र्ज़ दे दे इस हैवी इलेक्ट्रिकल वर्क्स के लिए—और राधेश्याम ने ठाकुर जबरसिंह को इस सबके लिए राज़ी कर लिया।

इस मामले को लेकर एसेम्बली में बड़ी तू-तू-मैं-मैं हुई, लेकिन शासन करने वाली पार्टी को एक-दो लाख रुपये का चन्दा देकर मामला रफ़ा-दफ़ा कर दिया गया।

और इस प्रकार राधेश्याम की गणना देश के ही नहीं, बल्कि विश्व के उद्योग-पतियों में होने लगी।

□□

जबरसिंह ने घण्टी बजाई और तत्काल उनका चपरासी शिवलाल आया, "चाय यहीं ले आओ। हमारे सेठजी को देख रहे हो! तो ढंग की चाय लाना। और देखो, जब तक हम दोनों कमरे में बैठे हैं तब तक किसी को मत आने देना—टेलीफोन यहीं रख दो।" जबरसिंह अब इतमीनान के साथ दीवान पर लेट गये।

राधेश्याम ने भी सोफ़ा पर अपने पर फैला लिये, "लगता है, एकाध हफ़्ते में अमेरिका जाना पड़ेगा—बम्बई में बहुत बड़ा काम हाथ लग गया है। सुनेंगे तो आपकी तबीयत खुश हो जायगी। तो इसमें आपकी सहायता की आवश्यकता होगी।"

जबरसिंह मुसकराए, "सेठजी! सहायता तो भगवान् की होती है, मैं तो सेवक

हूँ जनता का, देश का, समाज का, और तुम लोगों का।" और फिर उन्होंने आँख मारी, "लगता है किसी अमरीकन को फाँसा है।"

राधेश्याम भी मुसकुराए, "आप तो किसी की बात को गम्भीरतापूर्वक लेते ही नहीं। अब आप यह तो स्वीकार करेंगे ही कि भारतवर्ष की सबसे बड़ी समस्या है खाद्य समस्या।"

"हमारी सरकार हर साल बीस, तीस, चालीस, पचास लाख टन अनाज विदेशों से मँगाकार इस समस्या को हल कर रही है।" जम्हाई लेते हुए जबरसिंह ने कहा, "खैर, आगे कहो।"

"विदेश वाले अब अनाज देने में हीला-हवाला करने लगे हैं। यह क़र्ज़ और भीख का अनाज कब तक मिलता रहेगा? वह लोग कहते हैं कि अनाज के मामले में आत्म-निर्भर हो, अनाज की पैदावार बढ़ाओ।"

"बिल्कुल ठीक कहते हैं। हम हिन्दुस्तानियों को अनाज की पैदावार बढ़ाना चाहिए। सेठजी, हमारी सरकार इस ओर जी तोड़कर प्रयत्न कर रही है।"

लेकिन सरकार के सब प्रयत्न असफल—यानी टाँय-टाँय-फिस्। न यहाँ रासायनिक खाद है, न यहाँ सिंचाई का प्रबन्ध है, न अच्छे बीज हैं, न ट्रैक्टर हैं। तो ये साले किसान पैदावार कैसे बढ़ाएँगे?"

जबरसिंह अब कुछ सजग हुए, चपरासी चाय ले आया था। उसने इन दोनों के लिए चाय बनाई। जबरसिंह ने चाय का प्याला हाथ में लेते हुए कहा, "पैदावार तो बढ़ानी पड़ेगी सेठ राधेश्याम। तो इस दिशा में तुमने भी कुछ सोचा है? हमारे देश में सिंचाई के लिए पम्पिग सैट तो बन रहे हैं लेकिन निहायत घटिया क़िस्म के, रासायनिक खाद और ट्रैक्टर विदेशों से मँगाने पड़ते हैं तो उन्हें मँगाने के लिए विदेशी मुद्रा चाहिए। वैसे रासायनिक खाद बनाने के कारखाने बैठाने की बात चल रही है विदेशी सहयोग से—यह खबर दिल्ली से मिली है।"

"इसी सम्बन्ध में बात करने आया हूँ, और इसी सिलसिले में दिल्ली जाना है। बम्बई में अमरीकी उद्योगपतियों का एक डेलीगेशन आया था, उसके साथ यूनाइटेड़ नेशंस के कुछ अधिकारी भी थे। मुझे उड़ती-उड़ती खबर मिली तो मैं सीधे हवाई जहाज़ से बम्बई पहुंच गया।"

"तुम्हारी सूझ-बूझ के हम लोग क़ायल हैं।" जबरसिंह बोले।

"तो मैं उन अमरीकी उद्योगपतियों से, यू० एन० के खाद्य और कृषि अधिकारियों के साथ मिला। मैंने उनसे कहा कि उत्तर प्रदेश कृषि-प्रधान प्रान्त है, भारतवर्ष में कृषि के सम्बन्ध में जितने भी प्रयोग होते हैं वह उत्तर प्रदेश में होने चाहिए। मेरी बात का उन लोगों पर काफ़ी प्रभाव पड़ा और एक अमरीकी उद्योगपति हमें ट्रैक्टर बनाने के कारखाने में सहयोग देने को तैयार हो गया है। पाँच करोड़ की लागत से यह कारखाना खुलेगा यहाँ उत्तर प्रदेश में, ढाई करोड़ में मशीनें तथा अपने इंजीनियर आदि देने का वादा कर लिया है उसने, ढाई करोड़ मुझे जुटाना है।"

जबरसिंह ने बड़े उत्साह के साथ कहा, "वाक़ई! यह तो लम्बा काम हाथ में ले लिया है तुमने।"

"अरे, यह तो कुछ नहीं, अब आगे सुनिये। तो यू० एन० का वह अधिकारी मेरी बातचीत से इतना प्रभावित हुआ कि उसने उत्तर प्रदेश में एक कृषि अनुसन्धान-

शाला स्थापित करने का भी वादा कर लिया है—इसके लिए यू० एन० पाँच करोड़ की रक़म स्वीकृत कर देगा। मैंने बात कर ली है, लखनऊ शहर से मिले हुए लखनऊ-कानपुर रोड पर पाँच सौ एकड़ ज़मीन पर अनुसन्धानशाला क़ायम हो। उससे मिली हुई क़रीब डेढ़ सौ एकड़ ज़मीन पर हमारी यह ट्रैक्टर फैक्टरी भी क़ायम होगी।"

जबरसिंह ने ताली बजाते हुए कहा, "वाह सेठ राधेश्याम—तुम धन्य हो! हमारी सरकार हर तरह तुम्हारी मदद करेगी। अब बताओ कि तुम चाहते क्या हो?"

"एक तो यह कि मैं जो ट्रैक्टर फैक्टरी प्लान्ट कर रहा हूँ उसमें उत्तर प्रदेश सरकार एक करोड़ रुपये के शेयर ले ले। वैसे समाजवादी परम्परा में तो सरकार का यह फ़र्ज़ था कि वह ट्रैक्टर फैक्टरी खुद खुलवाती—लेकिन सरकार अनगिनती योजनाओं में फँसी हुई है।"

"हियर-हियर!" जबरसिंह ने कहा, "राधेश्याम, तुम्हें तो भारत सरकार का उद्योग मन्त्री होना चाहिए। खैर, छोड़ो भी, वहाँ फँस जाओगे तो हमारा प्रदेश पिछड़ा हुआ रह जायगा। अच्छा, एक करोड़ के शेयर उत्तर प्रदेश सरकार ले लेगी—अब आगे?"

"इस कृषि अनुसन्धानशाला के लिए पाँच सौ एकड़ और ट्रैक्टर फैक्टरी के लिए डेढ़ सौ एकड़ ज़मीन की आवश्यकता है। लेकिन किसानों के मिज़ाज तो आप जानते ही हैं। इन किसानों से बात की तो पन्द्रह सौ, दो हज़ार रुपया एकड़ की क़ीमत माँगने लगे।"

"हरामज़ादे हैं साले। दसगुने लगान पर हमारी सरकार ने उन्हें ज़मीन दे दी है—यानी ज्यादा-से-ज्यादा सौ रुपये एकड़ पर। तो तुम्हारा मतलब है कि सरकार यह ज़मीन एक्वायर करके तुम्हें दे दे। यह हो सकता है, लेकिन इस विषय पर मुख्यमन्त्री से बात करनी होगी।"

राधेश्याम ने अपना ब्रीफ़केस खोला, "इण्डियन ट्रैक्टर्स लिमिटेड का रजिस्ट्रेशन मैंने करा लिया है—वह यह है। एक करोड़ के शेयर्स हम लोगों ने लिये हैं—कुल पचास लाख के शेयर्स हमें बेचने हैं, बाकी एक करोड़ के शेयर्स उत्तर प्रदेश सरकार के होंगे। पहला काम तो यह, अब दूसरा काम है साढ़े छः सौ एकड़ ज़मीन खरीद लेना। इसके बाद अमेरिका जाकर यूनिवर्सल ट्रैक्टर के मालिक मिस्टर मेंजीस के साथ लिखा-पढ़ी करनी है। वहीं यूनाइटेड नेशंस जाकर इस कृषि अनुसन्धानशाला का मसला भी तै कर लेना है। अब एक साल तो फ़ैक्टरी की इमारत के निर्माण में लग जाएगा, इस बीच कृषि अनुसन्धानशाला के स्थापित होने का काम हाथ में उठा लिया जाएगा।"

"इसमें क्या शक है! मैं मानता हूँ तुम्हें सेठ राधेश्याम। जब काम हाथ में लिया तो भूत की तरह जुट जाते हो। हाँ, अपने छोटे भाई हिम्मतसिंह के लिए कहा था—एग्रीकल्चर का डिप्लोमा लेकर घर में बैठा है। कुछ सोचा है?"

"कृषि अनुसन्धानशाला के फ़ार्म में मैनेजर का पद मैंने आरक्षित कर दिया है उसके लिए—जिस दिन ज़मीन मिल गई उसी दिन से लैण्ड डेवलपमेण्ट का काम आरम्भ कर दें—आप उन्हें बुला लीजिए। पन्द्रह सौ से बाईस सौ रुपये का ग्रेड होगा।"

जबरसिंह का मुख चमक उठा, उन्होंने उसी समय मुख्यमन्त्री त्यागमूर्ति झम्मन-

लाल सत्याग्रही को फ़ोन मिलाया, "कौन—अरे मंगतराम ? त्यागमूर्ति जी हैं ? हाँ,—तो उनसे कह दो कि मेरे पास सेठ राधेश्याम बैठे हैं, बहुत महत्त्वपूर्ण योजना लाए हैं। हाँ, हाँ,—मैंने समझ ली है—मैं सन्तुष्ट हूँ। नहीं—नहीं—त्यागमूर्तिजी स्वयं उनसे बातें कर लें—मालिक तो वह हैं—हाँ। हाँ। हाँ। ठीक है, अब इस वक्त तकलीफ़ न देंगे—यह रात में ठहर जाएँगे—सवेरे दस बजे—ठीक सवेरे दस बजे आ जाएँगे—अरे मेरी क्या ज़रूरत ? खैर, मैं भी आ जाऊँगा उनके साथ।" और जबरसिंह ने फ़ोन रख दिया।

मुख्यमन्त्री त्यागमूर्ति झम्मनलाल सत्याग्रही की सन की तरह सफ़ेद घनी और लम्बी मूँछों का कुछ ऐसा प्रताप था कि हरेक आदमी को उनके सामने जाते ही उनके चरण छूने को विवश होना पड़ता था। मँझोले क़द के स्वस्थ दिखने वाले आदमी, आवाज़ में एक तरह की कड़क, दुग्ध-धवल ऐसी मोटी खादी के वस्त्र जिसके तार-तार पाँच गज़ की दूरी से गिने जा सकें, त्यागमूर्तिजी अपने बँगले से कम ही निकलते थे। एलोपैथी चिकित्सा-पद्धति का कुछ ऐसा प्रताप कि त्यागमूर्ति इक्यासी वर्ष की अवस्था में भी समस्त प्रदेश का भार अपने कन्धों पर लादे हुए थे। उनकी बत्तीसी जर्मनी में बनी थी—उन्हें देखकर कोई भी नहीं कह सकता था कि उनके दाँत नक़ली हैं। दोनों कानों में बटन लगे थे, जिनकी सहायता से वह ग़रीब का सुख-दुख आसानी से सुन सकते थे। सुनहरे फ्रेम का उनका चश्मा उनके व्यक्तित्व पर बहुत फबता था।

वैसे वह अपना शासन अपने दामाद मंगतराम के ज़रिये चलाते थे जो उनका निजी सचिव था, लेकिन अपने अस्तित्व का सबूत देने के लिए उन्हें कभी-कभी दौरे करने पड़ते थे, लोगों से मिलना-जुलना पड़ता था और उन्हें पहचानना होता था। उनके उपलक्ष्य में दिये जाने वाले शानदार भोजों में भोजन करना पड़ता था—जनता की फ़रियाद सुननी पड़ती थी, इसलिए उन्हें नक़ली दाँतों का, बड़ी पावर के चश्मे का और कान के आले का प्रयोग करना पड़ता था, वैसे इन चीज़ों से उन्हें कुछ कष्ट तो होता ही था। उनकी अवस्था भगवत-भजन करके अपना परलोक सम्हालने की थी।

लेकिन प्रदेश को उनकी आवश्यकता थी। जनसेवा और देशसेवा परलोक सुधारने का सबसे अच्छा साधन है। यही नहीं, इससे यह लोक भी सम्हलता है। अच्छे-से-अच्छा डाक्टर जो एक दफ़ा मरीज़ को मौत के मुँह से भी निकाल लाए, चौबीस घण्टे उनकी सेवा में, दुनिया की क़ीमती-से-क़ीमती दवा जो आदमी को नवीन जीवन और स्फूर्ति प्रदान करे, उन्हें उपलब्ध ! और सबसे बड़ी बात तो यह कि त्यागमूर्ति के पुण्य-प्रताप एवं यश और कीर्ति में इतनी क्षमता कि बावजूद सर्वव्यापी लूट-खसोट, झूठ और बेईमानी के शासन का तन्त्र बड़े मज़े में चल रहा था।

त्यागमूर्ति झम्मनलाल सत्याग्रही का अधिकांश जीवन ब्रिटिश सरकार की जेलों में बीता था। वह सम्पन्न परिवार के आदमी थे, उन्होंने सन् १९०२ में बी० ए० पास किया था। उनके पिताजी की विलायती कपड़े की आढ़त थी—इस सिलसिले में उन्हें १९०५-६ में कलकत्ता में रहना पड़ा था। वहाँ उन्होंने वंग-भंग आन्दोलन देखा और उस आन्दोलन से प्रभावित भी हुए। उस समय वह लाला झम्मनलाल माहेश्वरी थे। जीवट के आदमी थे, उनमें भावना थी, साहस था। और कलकत्ता-प्रवास में वह पक्के देशभक्त बन गए। वह बंगाल के देशभक्तों की आर्थिक सहायता करते थे, और उनका कहना था कि वह आतंकवादियों के दल में शामिल होते-होते बच गए।

सन् १९१९ में जब महात्मा गांधी का उदय भारत के राजनीतिक क्षितिज पर हुआ, तब झम्मनलाल माहेश्वरी ने अपने पिता के कारबार से हाथ खींचकर अपना जीवन महात्मा गांधी को अर्पित कर दिया, महात्मा गांधी के साथ अफ्रीका में सत्याग्रह की परम्परा थी, लिहाजा झम्मनलाल ने अपने नाम के आगे से माहेश्वरी शब्द हटाकर सत्याग्रही शब्द जोड़ दिया। अब वह झम्मनलाल सत्याग्रही बन गए।

महात्मा गांधी द्वारा चलाए जाने वाले हरेक आन्दोलन में महात्मा गांधी के विशेष शिष्य की हैसियत से उन्होंने सक्रिय भाग लिया, वह अपने हाथ से बुने सूत की खादी के वस्त्र पहनते थे, दिन-रात चर्खा चलाते थे, हरिजन बस्ती में रहते थे और जब इनसे जी ऊबता था तब जेल चले जाते थे।

उनके पिता में अपने इस पथभ्रष्ट पुत्र के प्रति बड़ा मोह था। इनकी पत्नी और इनकी लड़की के भरण-पोषण की ज़िम्मेदारी उन्होंने अपने ऊपर ले ली थी और उन्हें नियमित रूप से एक हज़ार रुपया महीना देने की व्यवस्था परिवार की ओर से हो गई थी। वह हज़ार रुपया यह अपने साथियों में बाँट दिया करते थे। महात्मा गांधी द्वारा निर्धारित ब्रह्मचर्य-धर्म निभाने के लिए इन्होंने अपनी पत्नी तक को त्याग दिया था और इस महान् त्याग से प्रभावित होकर इनके मित्रों और अनुयायियों ने इन्हें त्यागमूर्ति की उपाधि से विभूषित कर दिया था। अब इनका नाम हो गया त्यागमूर्ति झम्मन-लाल सत्याग्रही। सन् १९३० के सत्याग्रह आन्दोलन का युक्त प्रान्त में संगठन करने के लिए त्यागमूर्ति झम्मनलाल सत्याग्रही महात्मा गांधी का आश्रम छोड़कर अपने प्रदेश में आ गए, और तब से प्रदेश की कांग्रेस के प्राण बन गए।

दया और करुणा की साकार प्रतिमा थे त्यागमूर्ति झम्मनलाल सत्याग्रही; शालीनता और विनय उनके सामने पानी भरती थीं। किसी तरह की दुर्बलता के शिकार वह नहीं हुए अपने जीवन-भर। भगवान् की दया से उनका परिवार स्वयं बहुत सम्पन्न था, और सन्तान के नाम पर उनकी एक लड़की थी जिसका विवाह भी एक बहुत सम्पन्न परिवार के युवक के साथ हुआ था। मंगतराम माहेश्वरी को किसी चीज़ की कमी नहीं थी—वैसे वह बी० ए० पास नहीं कर सके, लेकिन दुनियादारी की बुद्धि उनमें प्रचुर मात्रा में थी। झम्मनलाल के निजी सचिव बनने के बाद ही उनकी वास्तविक प्रतिभा खुली—लोगों का कहना था कि शासन त्यागमूर्ति झम्मनलाल सत्याग्रही नहीं चलाते बल्कि मंगतराम माहेश्वरी चलाते हैं।

मंगतराम माहेश्वरी ने जबरसिंह और राधेश्याम का स्वागत करते हुए राधेश्याम से कहा, "सेठजी, गृहमंत्रीजी को साथ लाने की क्या आवश्यकता थी—त्यागमूर्तिजी स्वयं आपको इतना मानते हैं।"

त्यागमूर्तिजी के मिलने का कमरा लोगों से ठसाठस भरा था। हरेक आदमी के पास उनकी अपनी समस्या थी, तरह-तरह की फ़रियाद थी। बड़ी आत्मीयता के साथ त्यागमूर्तिजी हरेक आदमी की बात सुनते थे, फिर उससे लिखकर एक दरख्वास्त मंगतराम को देने को कह देते थे। मंगतराम ने इन दोनों को त्यागमूर्ति के निजी ड्राइंग-रूम में बिठाया और जनता-जनार्दन तथा त्यागमूर्तिजी के संलाप में योगदान देने के लिए मिलने वाले कमरे में चला गया। पाँच मिनट के अन्दर ही उसने सारी भीड़ को निपटा दिया। फिर उसने त्यागमूर्ति झम्मनलाल सत्याग्रही के साथ ड्राइंग-रूम में प्रवेश किया। जबर-सिंह और राधेश्याम उठकर खड़े हो गए, त्यागमूर्ति के बैठ जाने के बाद राधेश्याम ने

बड़ी भक्ति के साथ उनके चरण छुए।

बड़े विस्तार के साथ जबरसिंह ने राधेश्याम की योजना त्यागमूर्तिजी को बताई। मंगतराम हरेक प्वाइण्ट का नोट लेता जा रहा था। सब-कुछ सुनकर त्यागमूर्तिजी ने राधेश्याम से कहा, "यह तो ठीक है, लेकिन अगर देहातों में ट्रैक्टरों से खेतों की जुताई होने लगी तो फिर हल-बैलों का क्या होगा ?"

बड़े शान्त भाव से राधेश्याम ने कहा, "त्यागमूर्तिजी, हमें पुराने दक़ियानूसी हलों और मरियल क़िस्म के बैलों से मोह क्यों हो ? हम तो आधुनिक वैज्ञानिक युग के मानव हैं, हमारा दृष्टिकोण भी आधुनिक होना चाहिए।"

त्यागमूर्तिजी के मुख पर उनकी स्वाभाविक मोहक मुस्कान आई, "इसी विज्ञान के कारण हमारे देश का नहीं, सारे संसार का विनाश होने वाला है। इसी विज्ञान के कारण समस्त विश्व में बेकारी बढ़ रही है। मैं ग़लत नहीं कहता, अब तुम अपने इन ट्रैक्टरों को लो, एक ट्रैक्टर चार-पाँच सौ एकड़ ज़मीन जोत देगा, और उस ट्रैक्टर को चलाने के लिए एक या अधिक-से-अधिक दो आदमी चाहिए। सच कह रहे हैं न हम ?"

राधेश्याम ने उत्तर दिया, "त्यागमूर्तिजी ने अपने जीवन में कभी झूठ बोला ही नहीं, इसे कौन नहीं जानता।"

त्यागमूर्तिजी की मुस्कान और अधिक प्रस्फुटित हुई, "और एक हल से दस-बारह एकड़ ज़मीन से अधिक नहीं जोती जा सकती। तो चार सौ एकड़ ज़मीन जोतने के लिए कम-से-कम तीस हल चाहिए, साठ बैल चाहिए। तो इन तीस हलों पर ज़रूरत पड़ेगी तीस आदमियों की।"

"इसमें क्या शक है—बड़ा पक्का हिसाब है।" राधेश्याम को कहना पड़ा।

"तो फिर साठ बैलों के गोबर की खाद, मर गए तो उनका चमड़ा, तो हमारे देश में इन बैलों के द्वारा खाद की समस्या हल हो सकती है—बशर्ते लोग गोबर से कण्डा पाथकर उसे जलावें न। फिर विदेशों में भारतवर्ष के जूतों की कितनी अधिक माँग है, अगर पशुधन की उपेक्षा हुई तो हमारे देश में चमड़े का व्यापार चौपट। इसी पशुधन से दूध-घी-मक्खन। तो इससे देश के हरेक आदमी को काम मिलेगा। मैं तो महात्मा गांधी का अनुयायी हूँ। जिन्दगी-भर मैंने सर्वोदय का काम किया है।"

जबरसिंह अभी तक चुपचाप बैठे यह सब सुनते रहे, अब उनसे न रहा गया, "तो त्यागमूर्तिजी, मैं कल असेम्बली में आपकी नीतियों की घोषणा कर दूँ। लोग आपको प्रतिक्रियावादी और दक़ियानूसी कहकर हटाना चाहते हैं, आपकी न जाने कितनी शिकायतें दिल्ली में प्रधानमंत्री जी के यहाँ पहुँची हैं, वह तो मैं ही आपको बचाए हुए हूँ।"

त्यागमूर्तिजी ने सर हिलाते हुए कहा, "जबरसिंह ! मैं तो हटने को तैयार हूँ, आप लोग ही मुझे नहीं हटने देते। आप लोगों के आग्रह से ही मैं अपनी नीतियों को अपने अन्दर दबाए बैठा हूँ और अनीतियों का साथ दे रहा हूँ। खैर, छोड़ो भी यह सब। तो बात इतनी है कि यह सेठ राधेश्याम यहाँ लखनऊ में ट्रैक्टरों का कारखाना खोलना चाहते हैं, इन्होंने यू० एन० वालों को राज़ी कर लिया है कि एक कृषि अनुसन्धानशाला खुले। अब स्थिति यह है कि प्रधानमन्त्री कहते हैं कि उपज बढ़ाओ, उनका कहना है कि बेकारी दूर करो, उनका कहना है कि चमड़े का व्यापार बढ़े। अजीब

उलझन है।" फिर कुछ सोचकर वह बोले, "इन ट्रैक्टरों से अनाज की उपज बढ़ेगी—यह ट्रैक्टर हिन्दुस्तान-भर में बिकेंगे, इस ट्रैक्टर फैक्टरी में सैकड़ों-हज़ारों आदमी काम पाएँगे—तो यह ट्रैक्टर फैक्टरी खुलनी चाहिए, हमारी सरकार एक करोड़ के शेयर ले लेगी। राधेश्यामजी, तुम्हें हमारा पूरा सहयोग मिलेगा। कैबिनेट मीटिंग में यह प्रस्ताव रख देना जबरसिंह! तो मैं कुछ थक गया हूँ।"

जबरसिंह ने मुसकराते हुए कहा, "बस थोड़ी-सी बात और। तो कृषि अनुसंधानशाला भी खुलनी है—इसके लिए राधेश्यामजी को पाँच सौ एकड़ ज़मीन चाहिए, करीब डेढ़ सौ एकड़ इन्हें अपनी ट्रैक्टर फैक्टरी के लिए चाहिए—तो हुए साढ़े छः सौ एकड़। पाँच करोड़ रुपया मिल रहा है यू० एन० ओ० से इस कृषि अनुसन्धानशाला के लिए। नए ढंग की खेती, नए ढंग के बीज—एक एकड़ में सत्तर-अस्सी मन अनाज पैदा किया जा सकता है। तो अनाज की शानदार पैदावार ऊपर से।"

त्यागमूर्तिजी की आँखें फैल गईं—"क्या कहा! एक एकड़ में सत्तर-अस्सी मन अनाज!"

"जी। इस उत्तर प्रदेश में। इस फ़ार्म में यही सब तो होगा।" राधेश्याम बोला।

"लेकिन यह साढ़े छः सौ एकड़ ज़मीन। यह लखनऊ के आस-पास कहाँ मिलेगी?" त्यागमूर्ति ने पूछा।

"वह तो किसानों से एक्वायर करनी पड़ेगी—जनहित के नाम पर। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर यह प्रयोगशाला खुल रही है, ट्रैक्टर फैक्टरी से देश की बहुत बड़ी आवश्यकता की पूर्ति हो रही है।"

"ठीक है—तो कलेक्टर को अप्लीकेशन दे दी जाय—और जबरसिंह, तुम कलेक्टर को फ़ोन कर देना। जल्दी हो जाय यह सब।"

जबरसिंह ने उठते हुए कहा, "चलिए। यह सब तै हो गया। तो राधेश्याम—दस-बारह दिन तुम्हें कानपुर-लखनऊ के बीच रुकना पड़ेगा। यह सब काम पूरा करके दिल्ली और अमेरिका जाना।"

□□

श्री शंकरदेव प्रशान्त की गणना हिन्दी के युग-प्रवर्तक कवियों में होती थी। उन्होंने अपना साहित्यिक जीवन छायावाद के कवि के रूप में आरम्भ किया था, फिर वह समाजवादी बनकर प्रगतिशीलता पर उतर आए थे। सन् १९३९ के महायुद्ध के समय उन्होंने वीर-रस अपनाकर भारत के नौजवानों को सेना में भरती होने के लिए प्रोत्साहित किया और सन् १९४७ में देश की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद उन्होंने स्वतन्त्र भारत की गौरव-गाथा गाते हुए अनेक राष्ट्रीय कविताएँ लिखीं। यही नहीं, शान्ति, सह-अस्तित्व और अहिंसा का नारा अपनाकर उन्होंने कई महाकाव्य रच डाले।

शंकरदेव प्रशान्त के पास एक मोहक और आकर्षक व्यक्तित्व था, उनकी वाणी में माधुर्य के साथ ओज था। देश के अनेक शीर्षस्थ नेताओं एवं महत्वपूर्ण मंत्रियों से उनकी प्रगाढ़ मित्रता थी, और इधर पाँच-छः वर्षों से वह दिल्ली में बस गये थे। सरकारी अफ़सरों पर उनका प्रभाव था और न जाने कितनी सरकारी कमेटियों के वह सदस्य थे।

इसके परिणामस्वरूप वह हिन्दी के लेखकों एवं कवियों की सहायता करने की स्थिति में थे। जीवन के संघर्षों में पिसते हुए अनेक कवियों एवं लेखकों को उन्होंने काम दिलवाया था, और बदले में यह कवि तथा लेखकगण हरामखोरी के पाप से बचने के लिए तथा अपनी सीढ़ियाँ चढ़ने के लिए शंकरदेव प्रशान्त की छत्रछाया में आकर उनका यशोगान करते थे। इस शिष्य-समुदाय ने विगत तीन वर्षों में प्रशान्तजी की जयजयकार का जो शोर मचाया उससे विवश होकर हिन्दी वालों को उस वर्ष का साहित्य अकादमी का पुरस्कार उन्हें देना पड़ गया।

गौर वर्ण के मझोले क़द के आदमी। दाढ़ी-मूँछें साफ़, शरीर हृष्ट-पुष्ट, दुग्ध-धवल खादी की धोती, उस पर अच्छी तरह कलफ़ किया रेशमी कुर्ता। कंधे तक झूलते हुए पट्टेदार बाल, जरी के किनारे वाली तह की हुई मद्रासी चादर गले में पड़ी हुई थी। शंकरदेव प्रशान्त को लेकर जब राधेश्याम की कार बंगले के पोर्टिको में रुकी, राधेश्याम ने स्वयं आगे बढ़कर प्रशान्त जी का स्वागत किया, "यह हमारा सौभाग्य है कि आपने हमारी कुटी को पवित्र किया।" और शंकरदेव प्रशान्त ने मंथर गति से राधेश्याम के साथ उनके ड्राइंग-रूम में प्रवेश किया। शंकरदेव के साथ कुन्दनलाल और दामोदर-दास थे।

दामोदरदास लखनऊ नगर का उठता हुआ कवि था, और उसने हिन्दी के नये कवियों में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया था। दामोदरदास के पिता रिखभदास के पास सीमेण्ट की एजेन्सी थी, और सीमेण्ट पर पाँच रुपया फ़ी बोरी ब्लैक करके जो बेतहाशा रुपया रिखभदास को मिल रहा था, उसमें से पाँच सौ रुपयों के चन्दे के बल पर उसने शंकरदेव प्रशान्त द्वारा संकलित एवं प्रकाशित 'नई कविता के नवरत्न' नामक ग्रन्थ में अपना नाम उन नवरत्नों में शामिल करा लिया था। यही नहीं, उसने अपना एक कविता-संग्रह भी प्रशान्तजी की लम्बी भूमिका के साथ प्रकाशित करा दिया था।

दामोदरदास जहाँ साहित्य-क्षेत्र में शंकरदेव प्रशान्त का शिष्य था वहीं व्यापार के मामले में कुन्दनलाल का शिष्य बन गया। लोहे की ब्लैकमार्केटिंग का धंधा उसने विशुद्ध कुन्दनलाल की सहायता से आरम्भ कर दिया था।

शंकरदेश प्रशान्त के ड्राइंग-रूम में प्रवेश करते ही सब लोग उठ खड़े हुए! जबर सिंह एक बड़े सोफ़े पर बैठे थे, उठकर उन्होंने शंकरदेव प्रशान्त को अपनी बग़ल में बैठाया। और शंकरदेव प्रशान्त, की बग़ल में राधेश्याम बैठ गए। कितनी सुहावनी लग रही थी यह त्रिमूर्ति। बीच में शंकरदेव प्रशान्त, एक ओर जबरसिंह और दूसरी ओर राधेश्याम। कुन्दनलाल ने शहर के मशहूर फोटोग्राफ़र को इशारा किया, और उसने एक स्नैप इस त्रिमूर्ति का ले लिया।

रामलोचन जैकृष्ण के साथ बैठा हुआ बड़े कौतूहल के साथ कार्यक्रम को देख रहा था। सबसे पहले दामोदरदास ने शंकरदेव प्रशान्त का परिचय देते हुए एक छोटा-सा कवित्वमय भाषण दिया। उस भाषण से रामलोचन इतना अधिक प्रभावित हुआ कि उसने जैकृष्ण के कान में कहा, "यह दामोदर इतना अधिक प्रतिभावान—एक वास्तविक कवि है। उसका नाम किस तरह हमारे यहाँ छँटे हुए बदमाश और बेईमान ब्लैकमार्केटि-यरों में दर्ज कर लिया गया है, इसकी मुझे छानबीन करनी होगी।"

दामोदरदास के भाषण के बाद शंकरदेव प्रशान्त ने गर्व से अपने चारों ओर

देखा। और तभी जबरसिंह ने कहा, "हमारे देश के साहित्यकारों का हमारे स्वतन्त्र देश के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान हो रहा है—यह साहित्यकार हमारे आदर के पात्र हैं। हमारी सरकार इन साहित्यकारों की क़दर करना जानती है। हमारी केन्द्रीय सरकार ने हर साल हर भाषा के एक-एक साहित्यकार को पांच-पाँच हज़ार रुपये का पुरस्कार देकर इन लोगों की माली हालत सुधारने का प्रयत्न किया है, वह स्तुत्य हैं।"

जबरसिंह के इस कथन से जैकृष्ण सहसा भड़क उठा, उसने खड़े होकर कहा, "मंत्री महोदय! पाँच हज़ार की रक़म से भला कहीं किसी की माली हालत सम्हल सकती है? आज अगर किसी को एक स्कूटर भी खरीदना पड़े तो वह ब्लैकमोर्कट में पाँच हजार से कम का नहीं मिल सकता।"

जबरसिंह जैकृष्ण को ग़ौर से देखते हुए कुछ मिनटों तक सोचते रहे कि उसकी बात का क्या जवाब दिया जाय, फिर जैसे उन्हें जवाब सूझ गया, उनके मुख पर हल्की-सी मुस्कराहट आयी, "जैकृष्णजी, आपने ठीक बात कही—मेरा मतलब तो यह है कि इन पांच हजार रुपयों को डूबते को तिनके का सहारा समझा जाय। इनकी माली हालत सुधारने की तो कोई ठोस योजना बनानी पड़ेगी। अच्छा मान लीजिए कि देश के कलाकारों और साहित्यकारों की एक कालोनी बसाई जाय जहाँ इन्हें मुफ्त आवास मिले तो कैसा रहेगा?"

जैकृष्ण की विनोद-प्रवृत्ति जाग उठी, उसने कहा, "और जेबखर्च का क्या होगा?"

जैकृष्ण के इस प्रश्न ने मानो आग में घृत का काम किया। एकाएक शंकरदेव प्रशान्त भड़ककर खड़े हो गए, "मंत्रीजी! आपने क्या इन कवियों और कलाकारों को भिखमंगा समझ रखा है? हम लोग देश और समाज के निर्माता हैं, हमारी कृतियाँ हज़ारों वर्ष जीवित रहेंगी—हम युग-चेतना के प्रतीक हैं।"

वहाँ उपस्थित कवियों ने हर्ष-विभोर होकर तालियाँ बजाईं।

राधेश्याम इस बातचीत को बड़े मनोयोग के साथ सुन रहा था और साथ ही मन-ही-मन बड़ी तेज़ी के साथ हिसाब लगा रहा था। अब उसने कहा, "मैं अपने महाकवि शंकरदेव प्रशान्त की बात से पूरी तरह सहमत हूँ। देश के कवियों और साहित्यकारों को अच्छी सजी हुई कोठियों में रहना चाहिए, उन्हें शानदार मोटरों पर चढ़ना चाहिए। तो इन पाँच हज़ार रुपयों से होता क्या है? तो मैं राधेश्याम आज घोषणा करता हूँ पाँच नहीं, पचमपचीस—यानी पचीस हज़ार रुपयों का एक पुरस्कार मेवा-सेवा-संस्थान की ओर से प्रत्येक वर्ष हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार को दिया जायगा। आप पत्रकार लोग इस घोषणा का आज ही ऐलान कर दें, और यह भी ऐलान कर दें कि इस मेवा-सेवा पुरस्कार कमेटी के चेयरमैन हमारे गृहमंत्री ठाकुर जबरसिंह होंगे। मन्त्री कुन्दनलाल होंगे। कार्यकारिणी के पाँच सदस्य होंगे—लखनऊ, इलाहाबाद, बनारस और आगरा विश्वविद्यालयों के चार वाइस-चान्सलर और मेवा-सेवा-संस्थान की अध्यक्षा श्रीमती गंगादेवी।"

तालियाँ बजना शुरू ही हुई थीं कि एक निहायत चिमरखी-सा दिखने वाला एक नवयुवक कवि चीखकर बोल उठा, "इस कमेटी में कोई भी साहित्यकार नहीं है—साहित्य का मूल्यांकन कैसे होगा? इस कमेटी पर मुझे आपत्ति है।"

एक क्षण के लिए एक सन्नाटा-सा छा गया, तालियाँ रुक गईं और बड़ी विव-

शता की नज़र से राधेश्याम ने जबरसिंह को देखा। जबरसिंह ने कड़कदार आवाज़ में उस नवयुवक कवि को डाँटा, "इस तरह की अनर्गल बात करने वाले को यह पता होना चाहिए कि साहित्यकारों में हरामख़ोरों की तादाद बहुत बढ़ गई है, दलबन्दियों में बँधे हुए एक-दूसरे से लड़ते-झगड़ते हैं, आपस में ही गाली-गलौज करते हैं। तो साहित्य का सही मूल्यांकन हम लोग कर सकते हैं—यह साहित्यकार क्या करेंगे ? यह 'खाओ और गुर्राओ' की नीति मुझे बिल्कुल पसन्द नहीं।"

उस युवक कवि की बग़ल में बैठे हुए एक सम्भ्रान्त कवि मनोजजी ने उठकर कहा, "मैं अपने साथी कवि झंझावातजी के भावावेग पर बहुत लज्जित हूँ—इसे बद-तमीज़ी न समझा जाये। सेठ राधेश्यामजी की योजना बड़ी सराहनीय है। मैं कवि समुदाय की ओर से गृहमंत्रीजी से क्षमा माँग लेता हूँ।"

इस क्षमा-याचना से वातावरण फिर शान्त हो गया। तभी दामोदरदास ने शंकर देव प्रशान्त से एक कविता सुनाने की प्रार्थना की। प्रशान्त जी कुछ आना-कानी करने ही वाले थे कि जबरसिंह ने अनुरोध किया। अब प्रशान्त जी खड़े हो गए और कुन्दन लाल ने अपना टेप-रिकार्डर चालू कर दिया। प्रशान्त जी ने ओज भरे स्वर में 'अन्तरात्मा की आवाज' नाम की कविता सुनानी आरम्भ की। आध्यात्मिकता और भौतिकता का एक सम्मोहक सम्मिश्रण, संस्कृत, फारसी और अंग्रेज़ी शब्दों का सुन्दर ताना-बाना। लोग वाह-वाह कर रहे थे। जबरसिंह चकित होकर उस कविता को सुन रहे थे और उसके अर्थ को पकड़ने की कोशिश कर रहे थे, लेकिन आधी कविता सुनने के बाद उन्हें जम्हाई आई और उन्होंने अपनी घड़ी देखी।

सेठ राधेश्याम कविता नहीं सुन रहे थे, वह मन-ही-मन झंझावात को इस बात पर गालियाँ देते हुए कि उसने तालियों का बजाना बन्द करवा दिया था, अतिथियों के मुख पर अपनी घोषणा के प्रभाव को देखने की कोशिश कर रहे थे। उन्होंने जबर-सिंह की जम्हाई ताड़ ली। उस समय आठ बजने में दस मिनट बाक़ी थे—आठ बजे जबरसिंह को कैबिनेट मीटिंग में जाना था। उन्होंने राधेश्याम को यह बता दिया था। राधेश्याम को भी उसी दिन कानपुर लौटना था क्योंकि कानपुर में केन्द्रीय सरकार के उद्योगमन्त्री आए थे और कानपुर के उद्योगपतियों द्वारा उन्हें साढ़े नौ बजे एक डिनर दिया गया था—वहाँ राधेश्याम को उद्योगमन्त्री का स्वागत करना था। तो इस कविता-पाठ के बीच में ही उन्होंने उठकर कहा, "गृहमन्त्री को एक आवश्यक कैबिनेट मीटिंग में जाना है, और मुझे भी इसी समय कानपुर में एक आवश्यक कार्यक्रम में सम्मि-लित होने के लिए रवाना होना है। इसलिए इस अधूरे कार्यक्रम को छोड़ने की हम लोग क्षमा चाहते हैं।"

राधेश्याम के साथ जबरसिंह भी उठ खड़े हुए—प्रशान्त जी की कविता अधूरी रह गई।

□□

रामलोचन को लेकर जिस समय झंझावात अपने चचा टेलरमास्टर बनवारीलाल के साथ चौधरी हरभजन के यहाँ पहुँचा, चौधरी हरभजन अपने खेतों का चक्कर लगाकर घर लौटे थे और हुक्का पी रहे थे। चौधरी हरभजन की अवस्था प्रायः पैंसठ साल की थी

और आगरा ज़िले के जाटों में वह सबसे अधिक सम्मानित व्यक्ति समझे जाते थे। और तगड़े-से आदमी, घने सन की तरह सफ़ेद गलमुच्छें, चेहरे पर रौब। इन लोगों के पहुँचते ही वह अन्दर से तीन-चार मोढ़े निकाल लाए, फिर बनवारीलाल से उन्होंने कहा, "कहो मास्टर बनवारीलाल, आज सबेरे-सबेरे शहर कैसे ?"

बनवारीलाल ने झंझावात की ओर इशारा करते हुए कहा, "चौधरी साहेब, इस मेरे भतीजे मैंकूलाल को तो आप जानते ही होंगे, अब इसने अपना नाम झंझावात रख लिया है और कवि बन गया है।"

"मारो साले के दस पनही, बाप-दादों का दिया नाम बदल दिया है इसने, कपूत कहीं का ! इसी को तुमने घर से निकाल दिया था न, जो तुम्हारी भौजी रोई थी हमारे पास आकर...लेकिन तुमने ठीक ही किया था।" चौधरी हरभजन ने हुक्के का एक कश लिया, "यह साले जितने कवी-अवी होते हैं यह सब साले उचक्के बन जाते हैं। तो क्या फँस गया है किसी जुर्म में ? हमारे मन्त्री जबरसिंह को तो कांग्रेस के चुनाव-बोर्डों से ही नहीं फुरसत मिलती, लेकिन चले चलेंगे लखनऊ। अब घर पर आए हो इसे साथ लेकर तो इसे बचाना ही होगा।"

रामलोचन ने बड़ी मुश्किल से अपनी हँसी दबाई। बनवारीलाल बोला, "नहीं चौधरी साहेब, हम आपके पास इसलिए नहीं आए हैं। यह मैंकू तो झंझावात बनकर बड़ा नेता बन गया है। रूस घूम आया है, दिल्ली में इसने न जाने कितने लेक्चर दे डाले, अख़बारों में इसकी तस्वीरें निकली हैं।"

चौधरी हरभजन ने इस बार झंझावात को ध्यान से देखा और उनका स्वर एकाएक बदल गया, "अरे—इसकी तस्वीर तो अपने 'आगरा गजट' में छपी थी कुछ दिन पहले—यही तो है। तो मैंने सोचा कि इस लौण्डे को पहचानता हूँ। कहाँ देखा, याद नहीं आ रहा था।" और उन्होंने मोढ़े की ओर इशारा करते हुए कहा, "बैठो न चिरंजीव। बड़े आदमी बन गये हो तो चौधरी हरभजन को धन्य करने आये हो। अरे सुखवीर—ले तो आ एक-एक गिलास ताज़ा दूध। भैंसें दुह गई होंगी। साथ में बूरा भी लेते आना।"

सुखवीर हरभजन का भतीजा था और पैर फैलाए लेटा था। वह उठा। हरभजन से कुछ निकलता हुआ क़द, गठा बदन। हँसमुख चेहरे पर एक ताज़गी। उसने कहा, "अरे कक्कू, एक-एक गिलास भैंस का ताज़ा दूध पीकर यह टेलरमास्टर और यह झंझा-वत—दोनों पौंकने लगेंगे। हाँ, इनके साथी भले ही हजम कर जाएँ।"

झंझावत बोला, "नहीं चौधरी साहेब, हम लोग चाय-नाश्ता करके आगरा से चले हैं। हम अपने साथी पण्डित रामलोचन पाण्डे को आपसे मिलाने लाए हैं। लखनऊ में शहर कोतवाल थे, लेकिन इन्होंने इस्तीफ़ा दे दिया है।"

चौधरी हरभजन अब रामलोचन की ओर मुख़ातिब हुए, "कैसा गबरू जवान है। ऐसे ही आदमी को शहर कोतवाल होना चाहिए था। तो इन्होंने इस्तीफा दे दिया है और वह भी लखनऊ ऐसे शहर की कोतवालगीरी से !" और चौधरी हरभजन ने अपना सिर हिलाया, "तो तुम इन्हें आगरा ले गये हो, अच्छा किया। लेकिन पागलखाने वाला वह अपना बंसीलाल डागदर—सुसरे की बदली हो गई है। और किसी को हम जानते नहीं। चौधरी पलटूराम जरूर म्यूनिसिपैलटी के मिम्बर हो गये हैं, तो उनके यहाँ हम इन्हें लिए चलते हैं, वह कह देंगे तो ठीक तरह से इनका इलाज हो जाएगा।"

झंझावात अपनी हँसी नहीं दबा सका, उसने कहा, "नहीं चौधरी साहेब, यह पागल नहीं हैं, सिर्फ सरकार से झगड़ गए थे, यह है। इन्होंने सेठ राधेश्याम को हवालात में बन्द कर दिया था।"

चौधरी हरभजन एकाएक उछलकर खड़े हो गए, "अरे ये वही रामलोचन पाण्डे हैं जिन्होंने सेठ राधेश्याम को बन्द कर दिया था! अखबार भर गए थे उस खबर से। क्या बताएँ सुसरी याददाश्त को। उमर भी तो अब सत्तर की तरफ़ बढ़ रही है। अरे सुखवीर, ले आ वह मथुरा के पेड़े। पण्डितजी का मुँह तो मीठा करवाऊँगा ही। इस दफ़ा इनकार नहीं कर सकते। बड़े जीवट के आदमी हो पण्डित। वह साला राधेश्याम अपने जबरसिंह की नाक का बाल है—तो उसे बन्द कर दिया!" और चौधरी हरभजन काफ़ी देर तक हँसते रहे। इसी बीच सुखवीर अन्दर से एक छोटी-सी थाली में क़रीब आधा सेर पेड़े ले आया।

रामलोचन इनकार ही करता रहा, लेकिन चौधरी साहेब ने उसे पाव-भर पेड़े खिलाकर ही दम लिया। और सुखवीर ने एक अधसेरा गिलास भैंस के दूध का रामलोचन को ज़बर्दस्ती पिला दिया।

चौधरी हरभजन ने अब परम आत्मीय भाव से पूछा, "तो पण्डितजी, क्या सेवा करें हम आपकी?"

झंझावात बोला, "बात यह है चौधरी साहेब कि यह रामलोचन पाण्डे ठाकुर जबरसिंह के खिलाफ चुनाव में खड़े हो रहे हैं इस दफ़े यहाँ से। तो आपके पास आए हैं कि आप इनकी मदद करें। जबरसिंह ने इन्हें मुअत्तल कर दिया था उस हरामज़ादे सेठ का पक्ष लेकर। तो इन्होंने इस्तीफा दे दिया यह तै करके कि अब की जबरसिंह से ही निपटा जाय।"

चौधरी हरभजन का मुँह एकाएक उतर गया, कुछ चुप रहकर उन्होंने कहा, "अरे पण्डितजी, कहाँ फँस रहे हो तुम। जबरसिंह की सींक खड़ी है इस इलाक़े में, तो उनके खिलाफ कोई जीत नहीं सकता। हम तुम्हारे साथ लखनऊ चलते हैं। हम जबर को लानत-मलामत करेंगे, तुम्हें कप्तानी दिला देंगे। लेकिन जबरसिंह के खिलाफ खड़े होने में हम तुम्हारा साथ नहीं देंगे। क्यों पत्थर से टकरा रहे हो?"

रामलोचन ने अब कहा, "चौधरी साहेब, पत्थर को इस्पात काटता है तो समझ लीजिए कि मैं इस्पात हूँ। मैं आपसे न्याय का समर्थन चाहता हूँ।"

चौधरी हरभजन का चेहरा तमतमा उठा, "देखो पाण्डेजी, घर आए हो, नहीं तो हम तुम्हारा इस्पातीपन देख लेते। जबरसिंह ऐसा-वैसा पत्थर नहीं है, हीरा है—हीरा। जानते हो हीरा बज्र होता है। हम चौधरी हरभजन बीस साल से जबरसिंह की पैरोकारी कर रहे हैं, तो हमसे तुम कोई उम्मीद मत रखो। वैसे तुम्हारे लिए हमारे मन में बड़ा आदर है, तुम जीवट के आदमी हो। लेकिन जबरसिंह के मुकाबले तुम नहीं जीत सकते।"

तब तक सुखवीर ने बढ़कर कहा, "कक्कू, अब तुम बुढ़ा गए हो। शैतान का साथ छोड़कर भगवान् का भजन करो। पाण्डेजी, हम सुखवीर आपके साथ हैं, कक्कू का कहा-सुना माफ़ करो।"

चौधरी हरभजन अगर किसी से दबते थे तो सुखवीर से। सुखवीर के पिता शिवभजन की मृत्यु के बाद हरभजन ने उसे अपने पुत्र रनधीर की ही भाँति पाला था।

रनधीर फ़ौज में चला गया और कश्मीर की लड़ाई में मारा गया तो उनका सगा भतीजा सुखवीर ही उनके वंश का चिराग़ था। सुखवीर भी काफ़ी उद्धत स्वभाव का था। उन्होंने झुँझलाकर सुखवीर को गाली देते हुए कहा, "जा, जैसा तेरे मन में आवे कर। लेकिन मैं तो जबरसिंह का साथ दूंगा। बीस साल से पैरोकार रहा हूँ।" और यह कह-कर वह हुक्का गुड़गुड़ाने लगे।

सुखवीर कपड़े-वपड़े पहनकर रामलोचन के साथ हो लिया।

—'सबहिं नचावत राम गोसाईं' से

अपने खिलौने

विभिन्न समाजों और विभिन्न संस्कृतियों में जूते के विभिन्न स्थान हैं; लेकिन इससे इनकार नहीं किया जा सकता है कि हरएक समाज में जूते ने अपना निजी स्थान बना लिया है।

अपने इस ऋषि-मुनियों के पवित्र देश में जूते को बड़ा हीन समझते हैं। जूता पहनकर आप खाना नहीं खा सकते, देवालयों में नहीं प्रवेश कर सकते। महफ़िलों और मजलिसों में जूता वर्जित है। यही नहीं, कुछ घरों में तो कमरे में प्रवेश करने के पहले जूते को देहरी पर उतार देना पड़ता है। जूते का काम केवल पैरों की रक्षा करना होता है। आप निहायत फटा हुआ जूता पहनकर शानदार से शानदार महफ़िल में हो आइए, और कोई आपकी तरफ उँगली तक न उठाएगा। और सच तो यह है कि समझदार लोग नया जूता और साबुत जूता पहनकर महफ़िलों में और बारातों में जाते ही नहीं; क्योंकि वहाँ जूते चोरी हो जाने का ख़तरा है। कुछ लोगों का तो यह पेशा हो गया है कि नया जूता बाज़ार से खरीदने के स्थान पर इन महफ़िलों और बारातों में अपने पुराने जूतों को दूसरों के नए जूतों से बदल लें।

हमारे समाज में जूते का महत्त्व सिर्फ मारपीट में है, और मारपीट में जितना घिसा हुआ, जितना फटा हुआ जूता हो, उतना ही अच्छा माना जाता है। जूतेबाज़ी में लोगों का उद्देश्य चोट पहुँचाना उतना नहीं होता जितना इज़्ज़त उतारना होता है। वैसे कुछ ज़ालिम किस्म के राजा-रईस जूते से इज़्ज़त उतारने के साथ चोट पहुँचाने का काम भी लेते थे; लेकिन इस काम के लिये वे ख़ास तौर के मज़बूत जूते बनवाते थे और उन जूतों को इस क़दर तेल पिलाते थे कि बस पूछिए मत, यानी आप उसका अन्दाज़ा नहीं लगा सकते। बहरहाल, इतना कह देना काफ़ी होगा कि हमारी भारतीय संस्कृति और परम्परा में जूते का बहुत निम्न स्थान माना जाता है।

लेकिन अंग्रेज़ी संस्कृति में जूते का स्थान बहुत ऊँचा है। दावत-तवाज़ा, सभा-सोसाइटी, नाच-गाना सभी जगह आपको जूता पहनकर जाना पड़ता है। रोज़ सुबह लोगबाग जैसे देवता पर फूल-फल चढ़ाते हैं, ठीक उसी तरह जूते पर पालिश करते हैं। इस क़दर चमकाते हैं, कि उसमें मुख दिख जाय; क्योंकि लोगों की नज़र सबसे पहले आपके जूतों पर ही पड़ती है। कुछ इसी ख्याल से किसी समय

जूते के टो मे घड़ी लगाने की प्रथा भी चल पड़ी थी; लेकिन बहुत जल्दी ही वह गायब हो गई; क्योंकि जूते में लगी घड़ी को खतरा होता है। आखिर यह जूता पहना तो पैर में ही जाता है, और पैर शरीर का सबसे अरक्षित भाग है। ठोकर लग जाय, भाग दौड़ में पैर कुचल जाय। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि लात चलाना, ठोकर मारना—मानव अपनी इन आदतों को कभी न छोड़ सकेगा।

फिर भी विलायती सभ्यता में जूते को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। जूता देखकर आप किसी भी व्यक्ति का समाज में स्थान बता सकते हैं।

और इसीलिए रामप्रकाश ने मीना के जूतों की खरीदारी में जो परिश्रम किया, वह अस्वाभाविक न था। मन्साराम ब्रदर्स की जूतों की दुकान में जूते बनवाना कोई हँसी-खेल नहीं है। वहाँ सिर्फ़ इने-गिने लोग ही जूते बनवा सकते हैं। मीना के जूतों के दाम बहुत कहा-सुनी के बाद अस्सी रुपये स्वीकार किए थे, वरना उसने नब्बे रुपये बतलाए थे। मखमली स्वेड पर लखनऊवाला असली जरतारी का काम, निहायत लुभावना गहरा हरा रंग। रविवार की दोपहर-भर मन्साराम का छोटा भाई हंसाराम जूतों पर काम करता रहा और शाम के समय जाकर कहीं वह जूता तैयार हुआ। जिस समय रामप्रकाश जूते लेकर घर पहुँचा, अशोक ड्राइंग-रूम में चुप बैठा कुछ सोच रहा था।

रामप्रकाश को देखते ही जैसे उसे कुछ सहारा मिला। रामप्रकाश ने कमरे में प्रवेश करते हुए कहा—"अरे अशोकजी, नमस्कार। आप तो एकदम तैयार होकर आ गए। अभी कुल पौने छः बजे हैं। पार्टी का समय तो साढ़े आठ बजे है। पूरे पौने तीन घण्टे बाक़ी हैं।"

"पौने तीन घण्टे?"—अशोक ने घड़ी देखी।

"हाँ पौने तीन घण्टे।"

अशोक का स्वर कुछ मुर्झाया हुआ था—सोच रहा था, यह पौने तीन घण्टे कैसे बिताए जाएँ?

रामप्रकाश हँस पड़ा—"यह भी कौनसी बड़ी बात है। फ़ाउन्टेन पेन तो आपके पास ही है। मैं कागज लाए देता हूँ, तब तक आप दस-पांच कविताएँ ही लिख डालिए।"

"कविता लिखने के मूड में नहीं हूँ,"—अशोक ने रुखाई से कहा—"तुम्हारे हाथ में वह कैसा बण्डल है?"

"मीना के जूते हैं। अहा हा, अशोकजी, कितने खूबसूरत जूते हैं यह। ऐसे जूते हिन्दुस्तान में क्या, दुनिया के किसी कोने में नहीं मिलेंगे। खास डिजाइन का बनवाया है। तबीयत खुश हो जायगी उसे देखकर।"—और रामप्रकाश ने जूते का बक्स खोला।

यह स्पष्ट है कि इस जूते को देखकर अशोक की आँखें चौंधियाँ गईं। वास्तव में उसने इतना खूबसूरत जूता पहले कभी नहीं देखा था। इसी समय मीना दौड़ती हुई ड्राइंग-रूम में आई—"ले आए जूता, प्रकाश भैया! अरे, इतना खूबसूरत जूता! अहाहा! हा! मजा आ जायगा। तुम बड़े अच्छे हो भैया।"—और मीना ने उलट-पुलटकर जूता देखना शुरू किया।

अशोक उस कमरे में मौजूद था; लेकिन मीना ने अशोक पर ध्यान देने के बजाय उस जूते पर ध्यान दिया। अशोक को यह बहुत बुरा लगा। मुंह फेरकर वह

इस प्रतीक्षा में बैठ गया कि मीना उसकी तरफ़ ध्यान दे और मीना ने अशोक की ओर ध्यान दिया—उसकी कुशल-क्षेम पूछने को नहीं, बल्कि उससे अपने जूते की तारीफ़ कराने के लिए—"देखो अशोक, कितना प्यारा जूता है। क्या खूबसूरत, कितना मुलायम चमड़ा, कितना सुन्दर डिज़ाइन।"

अशोक ने गुर्राहट की आवाज़ में कहा—"हूँ। बड़ा क़ीमती होगा।"

मीना को अशोक की यह मुद्रा अच्छी नहीं लगी—"क्या बात है अशोक ? किसी से झगड़ा हो गया है क्या, जो इतने झल्लाए हुए हो ? मैं चाय भिजवाती हूँ। तब तक तैयार-वैयार होकर कपड़े पहन लूँ। आज मुझे-ही-मुझे दिखना है उस पार्टी में।" और मीना ने मुस्कराकर अपनी प्रसन्नता प्रकट की।

अशोक ने मन-ही-मन किचकिचाकर कहा—"हूँ, आज तुम ही तुम उस पार्टी में दिखोगी, देखूँगा कैसे तुम-ही-तुम दिखती हो !"

मीना अशोक से बिना और कुछ बात किए हुए जूता लेकर अपने कमरे में चली गई। रामप्रकाश थोड़ी देर चुपचाप खड़ा रहा; पर अशोक जैसे एक तन्द्रा में डूब गया था। रामप्रकाश को भी कहना पड़ा, "क्षमा कीजिएगा अशोकजी, मैं भी जरा तैयार होकर कपड़े-वपड़े पहन लूँ। रानीजी ने कहा है कि मैं उन्हें अपने साथ ले चलूँ और रानीजी को तो आप जानते ही हैं, बड़ी जल्दी नाराज़ हो जाती हैं।"

अशोक ने मानो रामप्रकाश की बात सुनी ही नहीं। रामप्रकाश ड्राइंग-रूम से चला गया। रामप्रकाश के जाने के कुछ क्षणों के बाद ही ज्ञानेश्वरी ने मुन्ना और बेबी के साथ कमरे में प्रवेश किया। अशोक को देखते ही ज्ञानेश्वरी ने कहा—"आ गया अशोक बेटा। बड़ा अच्छा किया। मुझे तो कीर्तन में देर हो गई। अहा आ ! उस पण्डित ने ऐसी सुन्दर रामायण की कथा सुनाई कि उठने को जी ही नहीं चाहा। साहब अभी नहीं उठे। अरे टुन्नू, साहब को जगा जाकर। अशोक बेचारा कमरे में अकेला बैठा है और वह पैर फैलाए सो रहे हैं। इतवार के दिन पूरे कुम्भकरन बन जाते हैं।"

टुन्नू अपनी माता का आदेश पालन करने के लिए जाने ही वाला था कि जयदेव भारती अपने कमरे से निकलते हुए दिखे—"क्या कहा, कुम्भकरन ? उस रामायणी पण्डित ने, मालूम होता है, कुछ ऐसा जादू पढ़ा दिया है कि तुम्हें रावण, मेघनाद और कुम्भकरन ही नजर आते हैं। अरे अशोक, जरा मूड ठीक कर लो, कुछ दोस्त लोग आने वाले हैं।"—यह कहकर जयदेव ने दीवार पर लगी घड़ी देखी। सवा छः बज रहे थे।

नौकर अशोक के सामने चाय की ट्रे रख गया; लेकिन अशोक चाय पाने के मूड में जैसे था ही नहीं। वह चुपचाप बैठा रहा। ज्ञानेश्वरी टुन्नू और बेबी का हाथ पकड़े हुए अपने कमरे में चली गई। जयदेव ने चाय की ट्रे और अशोक के मुखवाली वितृष्णा को देखते हुए कहा—"क्यों अशोक, तुम्हें कुछ ज्यादा ज़बर्दस्त चीज़ की ज़रूरत मालूम होती है, भला इस चा-वा से क्या होगा ?"

अशोक ने अनुभव किया कि उसे जल्दी ही जम्हाई आने वाली है और उसकी आँखें कुछ झिप-सी रही हैं। उसने कहा—"जी, आपका साथ दे लूँगा।"

"साथ क्या दोगे ख़ाक !"—जयदेव ने पोर्टिको की ओर देखते हुए कहा—"यह कृष्णन् आज पहले ही आ पहुँचा। खुद न पिये तो न पिये, दूसरों के पीने में नाक-

भौं सिकोड़ने लगता है ।"

"हलो भारती, अब मत कहना कि मैं हमेशा लेट रहता हूँ। आज पन्द्रह मिनट पहले ही पहुँच गया हूँ ।"—कृष्णन् ने जयदेव भारती से हाथ मिलाते हुए कहा ।

"तुमने कमाल कर दिया कृष्णन् । बैठो, आज तुम समय से पहले आए, तो मेहता और गुप्ता ग़ायब हैं । अभी फ़ोन करके उन्हें आने की खबर देता हूँ ।"

जयदेव के उठने के पहले ही ज्ञानेश्वरी की आवाज़ सुनाई पड़ी—"अरे देखते हो, कितना सुन्दर जूता है ! प्रकाश ने एक खास दुकान से मीना के वास्ते बनवाया है; लेकिन जूते का ऐसा सुन्दर डिज़ाइन तो मैंने पहले कभी न देखा था ।"—और कहते-कहते ज्ञानेश्वरी ने मीना का जूता जयदेव भारती को पकड़ा दिया ।

जयदेव भारती ने जूता उलट-पुलटकर देखा । ऐसा लगता है कि जूता उन्हें भी पसन्द आ गया—"वाक़ई बड़ा खूबसूरत जूता है, क्यों कृष्णन् ।"—और भारती ने जूता कृष्णन् की गोद में रख दिया ।

कृष्णन् में ब्राह्मणत्व के संस्कार पूरी तरह से मौजूद थे । वैसे आई०सी०एस० और भारत सरकार का एक मंत्री होने के नाते वह समाज में ज़र्क-बर्क दिखता था; लेकिन घर में वह रोज सुबह दो घण्टा पूजा करता था । कमरे में नंगे पैर और लुंगी पहनकर रहता था, और पाटे पर बैठकर तथा केले के पत्ते पर परसवाकर साँबर, रसम् और दही के साथ खाना खाता था, तथा इडली, दोसा का नाश्ता करता था । उसे अपनी गोद में जूता रखा जाना अच्छा नहीं लगा, यह स्पष्ट था । एक अजीब तरह की कड़ुवा-हट अपने मुँह पर लाकर उसने कहा—"जूता, जूता है । मजबूरी से पहना जाता है । अगर न पहना जाता, तो और भी अच्छा ।"—यह कहकर वह उठ खड़ा हुआ और जूता ज़मीन पर खिसक गया ।

ज्ञानेश्वरी ने मुसकराते हुए कहा—"आपको जूतों में कोई रुचि नहीं मालूम होती कृष्णन् साहब !"

कृष्णन् ने उत्तर दिया—"मैं ब्राह्मण हूँ मिसेज़ भारती, चमार नहीं हूँ। हमारे कुल में आज तक किसी ने जूता नहीं पहना । यह तो अपवित्र होता है ।"

जयदेव भारती को अब अपनी गलती का पता चला। उन्होंने कहा—"अरे कृष्णन्, मैं भूल गया था कि तुम ब्राह्मण हो । माफ़ करना, जो मैंने तुम्हें जूता छुआ दिया । वैसे तुम जूता पहने हुए हो, इसलिए तुम्हें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए ।"

जयदेव की इस क्षमा-याचना से कृष्णन् और भी कठोर हो गया, पिघलना तो दूर रहा—"हाँ, मैं जूता पहने हूँ, लेकिन मैं पैर में पहने हूँ । और इसे नौकर ने पहना दिया था, मैंने अपने हाथ से इसे नहीं छुआ । तुमने तो जूता मेरी गोद में रख दिया । मुझे स्नान करना पड़ेगा ।"

"मैं अभी तुम्हारे बाथ का प्रबन्ध करवाए देता हूँ । मेम साहब, कृष्णन् के लिए बाथ का प्रबन्ध हो जाना चाहिए। और मैं तुम्हारे घर फ़ोन करके कपड़े मँगवाए लेता हूँ, क्योंकि तुम्हें शायद कपड़े बदलने होंगे ।"—यह कहकर जयदेव भारती कृष्णन् के घर फ़ोन करने के लिए बरामदे में चले गए और ज्ञानेश्वरी बाथ का प्रबन्ध करने चली गई ।

एकाएक कृष्णन् की नज़र अशोक पर पड़ी और उसने देखा कि अशोक मुसकरा रहा है । अशोक की यह मुसकराहट कृष्णन् को सख्त नापसन्द आई । उसने कड़े स्वर

में पूछा—"तुम मुसकरा क्यों रहे हो ? मुझे बेवकूफ़ समझते हो ?"

इस प्रश्न से अशोक सकपकाया। उसने गम्भीर होने का प्रयत्न करते हुए कहा —"जी, बात यह है—जी, मैं जरा जूते पर सोच रहा था।"

कृष्णन् का धैर्य टूट गया, "जूता ! जूता ! इतनी अपवित्र और गन्दी चीज़ पर तुम सोच सकते हो, तो सोचो, मैं जाता हूँ।"—और कृष्णन् उठकर दरवाज़े की ओर चला।

अशोक को भी उठना पड़ा—"आप तो रुष्ट हो गए। मेरा मतलब यह नहीं था।"—लेकिन कृष्णन् को भला अशोक की बात सुनने की कहाँ फुरसत ! वह तीर की तरह कमरे के बाहर हो गया।

अशोक ने कृष्णन् का पीछा करना बेकार समझा। उसकी नज़र मीना के जूते से उलझ गई जो ज़मीन पर पड़ा था। हरे रंग का अत्यन्त लुभावना जूता। बिलकुल नया कट, बिल्कुल नया डिज़ाइन। बिजली के प्रकाश में उस जूते का ज़रतारी का काम चमक रहा था। एक बार उसकी तबीयत हुई कि वह उस जूते को उठाकर उलटे-पलटे, उसकी शोभा निरखे। और, उसने जूते को उठा ही लिया। उसी समय उसे दो आवाज़ें एक साथ सुनाई पड़ीं—एक आवाज़ थी कृष्णन् की कार की घरघराहट की, जो धीमी पड़ती जा रही थी, और दूसरी थी—जयदेव भारती की डाँट, जो तेज पड़ती जा रही थी। जयदेव भारती ने कमरे में प्रवेश करते हुए कहा—"अशोक ! क्या कृष्णन् चला गया ?"

"ऐसा मालूम होता है उनका गुस्सा हृद से ज़्यादा बढ़ गया था।"—अशोक ने दबा ज़बान से कहा।

"बड़ा गधा है। अशोक, तुम अपनी कार पर जाकर उसे मना लाओ। जल्दी करो।"

अशोक हाथ में जूता लिए हुए ही बाहर निकला। अपनी कार पर बैठकर उसने ड्राइवर से कहा—"कृष्णन् साहब के बँगले।"

जूता इस समय भी अशोक के हाथ में था। इधर कार बँगले के बाहर निकली और उधर अशोक को होश आया कि मीना का जूता वह लिए हुए है। इतना समय नहीं था कि वह मीना का जूता वापस रखने के लिए कार को फिर लौटाये। और उसी समय एकाएक एक मौलिक विचार उसके मन में आया—"मान लो, यह जूता ही ग़ायब हो जाय। तो मीना का वह हरे रंग वाला शृंगार ही फीका पड़ जायगा। बिना हरे जूते के वह असली पन्ने का शानदार सेट, वह फ्रेंच क्रेप सिल्क की ज़रतारी वाली हरी साड़ी, वह हरा मेकअप, सभी बेकार। और यह मीना ! यह मीना, जो कि वीरेश्वर-प्रताप के इशारे पर नाच रही है, यह मीना जो वीरेश्वरप्रताप की पार्टी में वही-वह दिखे, इसलिए अप्सरा का रूप धारण करना चाहती है, उसकी पूरी तरह से किरकिरी हो जाय।"—और इस विचार से अशोक मन-ही-मन मुसकराया।

कृष्णन् काफ़ी नाराज था, क्योंकि अशोक की बड़ी बुइक कार उसकी छोटी-सी आस्टिन कार को उसके बँगले तक नहीं पकड़ सकी। जिस समय अशोक की कार ने बंगले में प्रवेश किया, कृष्णन् अपनी कार से उतर कर बरामदे में पहुँच चुका था। उसने अशोक की कार को रुकते देखकर बरामदे से ही पुकारकर कहा—"मैं नहाने जा रहा हूँ। नहाकर खाना खाऊँगा। भारती से कह देना कि मेरा ब्रिज का प्रोग्राम

फिस्स ।"

अशोक कृष्णन् को मनाने के लिए वरामदे की ओर बढ़ा और कृष्णन् ने फिर आवाज़ दी—"तुम्हारा कुछ कहना-सुनना विल्कुल वेकार । मैं कोई वात नहीं सुनूँगा ।" यह कहकर कृष्णन् वरामदे की विजली बुझाकर घर के अन्दर दाखिल हो गया और उसने कमरे का दरवाज़ा अन्दर से बन्द कर दिया ।

अशोक अब कृष्णन् के बँगले के वरामदे में खड़ा हो गया एक अजीब-सी, अनिश्चित-सी मनोदशा में । उस समय भी जूता उसके हाथ में था । मानो वह जूता हाथ से चिपक गया हो । यह सारा झगड़ा-फिसाद इसी जूते के कारण हुआ, अशोक ने सोचा । उसने वड़े प्रयत्न के साथ जूता कृष्णन् के वरामदे में पड़ी तिपाई पर रख दिया और अपनी कार में आकर बैठ गया ।

—'अपने खिलौने' से

रेखा

रेखा का पासपोर्ट ठीक हो गया, उसका टिकट खरीद लिया गया। उस दिन अक्टूबर की पाँच तारीख थी। बारह दिन बाक़ी थे। सत्रह अक्टूबर को उसे योगेन्द्रनाथ के साथ जाना था।

देवकी इलाहाबाद जा रही थी। प्रभाशंकर अब दस-बीस क़दम चलने भी लगे थे। उनके स्वास्थ्य के सुधरने में गति आ गई थी।

लेकिन देवकी की अनुपस्थिति में वह प्रभाशंकर को अकेले छोड़कर कैसे जा सकेगी? उसने देवकी से कहा, "क्या तुम्हारा इलाहाबाद जाना टाला नहीं जा सकता?"

"क्या बताऊँ, बच्चे अकेले हैं। मैंने दशहरा पर आने को कह दिया था।" देवकी ने कहा।

रेखा ने देवकी को देखा, "मेरी एक बात का बुरा तो न मानोगी? मुझे तुमसे यही कहना है कि तुम अपने बच्चों को लेकर यहीं चली आओ। ये सब बच्चे प्रोफ़ेसर के ही तो हैं। इलाहाबाद में तुम्हारे लिए रखा ही क्या है?"

अवाक् देवकी रेखा को देखती रह गई, "तुम? तुम यह सुझाव दे रही हो, रेखा रानी? तुम मुझसे मजाक तो नहीं कर रही हो?"

"नहीं, जरा भी मज़ाक नहीं कर रही हूँ। प्रोफेसर की देखभाल अकेले मुझसे नहीं होती, तुम्हारे आने से मुझे बड़ा सहारा मिलेगा। इस सूने घर में मेरा जी भी बहुत घुटता है, बच्चों से चहल-पहल रहेगी।"

"लेकिन प्रोफ़ेसर राज़ी होंगे इसके लिए? तुमने उनसे कोई बात की?"

"उनसे बात करने की ज़रूरत नहीं है। इस घर पर जितना अधिकार उनका है, उतना ही मेरा है और उतना ही तुम्हारा है। अगर उन्हें कोई आपत्ति हो सकती थी तो मेरे कारण, लेकिन यह प्रस्ताव तो मेरा ही है।" रेखा ने कहा, "और बच्चों को लेकर एकदम चली आना।"

देवकी रेखा के गले से लिपट गई, "तुम देवी हो, रेखा रानी। तुम कितनी महान हो! आज पाँच तारीख है। मैं चौदह-पन्द्रह तारीख तक आ जाऊँगी। इलाहाबाद से हटने का पूरा इन्तज़ाम करना पड़ेगा। और देखो, जब तक मैं नहीं आती तब तक तुम

धीरज से काम लेना। प्रोफ़ेसर की किसी बात का बुरा न मानना, उनका तो मिज़ाज ही चिड़चिड़ा हो गया है इन दिनों।"

देवकी को गाड़ी पर चढ़ाकर जब रेखा लौटी, उसका मन हलका था। सत्रह अक्टूबर को उसके जीवन में एक नया परिच्छेद आनेवाला है। प्रभाशंकर अब बिना किसी सहारे के दस-बीस क़दम चल लेते थे। डॉक्टर ने कह दिया था कि नवम्बर से वह यूनीवर्सिटी में अपना काम सम्हाल लेंगे।

चौदह अक्टूबर आयी और बीत गई, लेकिन देवकी नहीं आयी। पन्द्रह तारीख को सुबह रेखा को देवकी का एक पत्र मिला। उसमें उसने लिखा था कि वह बीस तारीख को सुबह दिल्ली पहुँचेगी। रेखा का मन एक क्षण के लिए उदास हुआ, लेकिन दूसरे ही क्षण वह सम्हल गई। जो होना है वह होकर रहेगा, उस पर किसी का कोई अधिकार नहीं।

रेखा ने अपनी पूरी तैयारी कर ली थी। तैयारी ही क्या करनी थी उसे! थोड़े से कपड़े और उसके गहने। एक सूटकेस में वे सब आ गए। बाक़ी सब-कुछ वह यहीं छोड़ जाएगी, देवकी के लिए। इस सबकी उसके लिए कोई आवश्यकता नहीं थी।

सत्रह अक्टूबर की सुबह हुई, और रेखा के मन में एक हलचल मच गई। सुबह के समय ही एक हफ़्ते की दवा लाकर उसने रख दी। लेकिन अन्य किसी काम में उसका मन नहीं लग रहा था। शाम को पाँच बजे उसने घड़ी देखी: अभी छः घण्टे बाकी थे। इसके बाद वह इस नरक से निकल पड़ेगी। प्लेन रात को ग्यारह बजे जाता था, रेखा ने योगेन्द्रनाथ से तय कर रखा था कि वह नौ बजे रात को उनके यहाँ पहुँच जाएगी। उसी समय एक टैक्सी लेकर वे लोग एयरपोर्ट के लिए रवाना हो जाएँगे। प्लेन साढ़े दस बजे जाता है। लेकिन अपना असबाब ठीक करना था, अपने काग़ज़ात ठीक करना था।

घर में अब उसका मन न लग रहा था। चार बजे उसने प्रभाशंकर को दवा पिलाई थी। आठ बजे अब दूसरी खुराक देगी और तभी रेखा को ख्याल आया कि वह कुछ लोगों से मिल ले। घर उसे काटने को दौड़ रहा था। कार लेकर वह निकल पड़ी।

उस दिन फिर उसे लौटने में दस मिनट की देर हो गई। उधर घड़ी में आठ बजे और इधर प्रभाशंकर ने अपने चारों ओर देखा। घर में सन्नाटा छाया हुआ था। बनवारी ने बतलाया कि मेम साहब क़रीब पाँच-साढ़े पाँच बजे गाड़ी लेकर कहीं चली गई हैं, कह गई हैं कि आठ बजे तक वह लौट आएँगी। प्रभाशंकर चुपचाप लेट गए। उनका क्रोध बढ़ता जा रहा था। उनकी दृष्टि दरवाज़े पर लगी थी। रेखा को देखते ही प्रभाशंकर भड़क उठे, "पाँच बजे से अब तक क्या करती रहीं? कहाँ गई थीं?" प्रभाशंकर ने फिर रेखा को एक भद्दी-सी गाली दी।

कितनी गाली देंगे प्रभाशंकर? आज के बाद वह रेखा को गाली न दे सकेंगे, क्योंकि गाली सुनने के लिए रेखा उनके सामने होगी ही नहीं। रेखा ने प्रभाशंकर की गाली का कोई उत्तर नहीं दिया, चुपचाप उसने प्रभाशंकर को दवा दी।

एक भावनाहीन चेहरा प्रभाशंकर ने देखा, और न जाने क्यों वह कुछ सहम से गए। दवा पीकर प्रभाशंकर एकटक रेखा को कुछ देर तक देखते रहे, फिर उन्होंने कहा, "बैठो, मुझे क्षमा करना जो मैंने अभी तुम्हें गाली दी। लाख कोशिश करता हूँ

अपने ऊपर अधिकार रखने की, लेकिन न जाने कैसी हिंसा मुझमें भर गई है कि मुझे अपने ऊपर अधिकार ही नहीं रहता।"

रेखा चुपचाप बैठ गई, कुल तीस-चालीस मिनट की बात, इसके बाद प्रभाशंकर अपनी हिंसा में अकेले घुटेंगे, उस हिंसा को वह नहीं बँटाएगी।

प्रभाशंकर का मुख एकाएक करुण हो गया। बड़े बुझे हुए स्वर में उन्होंने कहा, "रेखा, तुम्हारे कारण मैंने बहुत सहा है, लेकिन मैं तुम्हें दोष नहीं देता। मेरे कारण शायद तुमने इससे भी अधिक सहा है। तुमसे विवाह करके मैंने तुम्हारे प्रति बड़ा अन्याय किया, शायद एक तरह से मैंने तुम्हारे जीवन को नष्ट कर दिया।"

रेखा ने प्रभाशंकर को रोका, "आप अधिक बात न कीजिए।"

"नहीं रेखा, मुझे अपनी बात कह लेने दो, इससे मेरे पाप की कालिमा शायद कुछ धुल सके। मैंने समझा था कि तुम मुझसे प्रेम करती हो, लेकिन वह मेरा भ्रम था। तुम मेरी पूजा करती थीं, मुझ पर भक्ति थी तुम्हारी, वह प्रेम नहीं था। जहाँ तक मेरा सवाल है, शायद पुरुष का प्रेम वासना से ओतप्रोत होता है। मैं अपनी पाशविक भावना में अन्धा हो गया था और मेरी उस पशुता का दण्ड मिल रहा है मुझे। इस दण्ड को मुझे चुपचाप स्वीकार करना चाहिए। तुमने मुझ पर विश्वास किया, तुमने मुझे अपनी ममता दी, अपनी संवेदना दी। लेकिन मैंने इस सबका दुरुपयोग किया। मैं यह भूल गया था कि तुम्हें मुझसे प्रेम नहीं है, प्रेम हो भी नहीं सकता। आत्मा के धर्म के साथ शरीर का भी तो कोई धर्म है। अपने शरीर की भूख तो मैं जानता था, लेकिन तुम्हारे शरीर की भी कोई भूख हो सकती है, यह मैं भूल गया था।" यह कहते-कहते प्रभाशंकर की आँखों में आँसू आ गए।

रेखा चुपचाप प्रभाशंकर की बातें सुन रही थी और उसके अन्दर करुणा उमड़ती चली आ रही थी। वह अनुभव कर रही थी कि बड़े प्रयत्न से उसने अपने हृदय को जो पत्थर बनाया है, वह गलता जा रहा है। धीरे-धीरे रेखा के सामने प्रभाशंकर का विवाह के पहले वाला वह रूप आ गया था जिसने उसे इतना प्रभावित किया था। प्रभाशंकर का महान् व्यक्तित्व धीरे-धीरे उसकी आँखों के आगे उभर रहा था।

प्रभाशंकर कहे जा रहे थे, "मैं बुरी तरह टूट गया हूँ, रेखा। फिर से बन सकूँगा, इसकी कोई आशा नहीं। बड़ी मुसीबत से दस-पाँच साल और चल जाएँ तो चल जाएँ, लेकिन इसकी कोई सम्भावना नहीं दिखलाई देती। और इतने दिनों तक मैं तुम पर एक भार बनकर ही जीवित रहूँगा।"

"ऐसा न कहिए।" रेखा ने कहा।

"नहीं रेखा, मैं सच कहता हूँ कि मैं अपनी निराशाओं और असफलताओं से पागल हो गया हूँ, और अपने ऊपर से अपना अधिकार खो बैठा हूँ। तुम मेरी बातों का बुरा न मानना। मेरे कोई नहीं है, एक तुम्हें छोड़कर, एक तुम्हारा ही सहारा है मुझे।"

अब रेखा को अनुभव हुआ कि एक टूटा हुआ आदमी उसके सामने लेटा हुआ है—कितना निरीह और कितना दयनीय। इस आदमी को मृत्यु के मुख में और बेसहारा छोड़कर वह जा रही है। वह प्रभाशंकर की ही नहीं अपनी आत्मा की हत्या करने पर तुल गई है। उसने प्रभाशंकर का हाथ अपने हाथ में लेते हुए कहा, "आप बहुत जल्दी अच्छे हो जाएँगे, आप चिन्ता करना बिल्कुल छोड़ दीजिए। मैं आपके

पास हूँ, आपके पास रहूँगी।"

यह क्या कह गई रेखा ! उसने घड़ी देखी, नौ बज चुके थे। योगेन्द्रनाथ उसकी प्रतीक्षा कर रहा होगा। करने दो उसे प्रतीक्षा, वह नहीं जा पाएगी। वह नहीं जाएगी प्रभाशंकर को छोड़कर, जो कुछ भी होना हो, वह हो।

एक असीम शान्ति दीखी रेखा को प्रभाशंकर के मुख पर। ऐसा लग रहा था कि प्रभाशंकर की जीवनी शक्ति लौट रही है। चुपचाप वह बैठी थी प्रभाशंकर का हाथ अपने हाथ में लिए हुए, और तभी उसे टेलीफोन की घंटी सुनाई दी, उसने फिर अपनी घड़ी देखी, नौ बजकर दस मिनट हो गए थे। उसने कहा, "इस वक्त किसका फोन हो सकता है, देखूँ तो।" वह टेलीफोन की ओर दौड़ी।

दूसरी ओर से योगेन्द्रनाथ मिश्र की आवाज सुनाई पड़ी उसे, "रेखा, नौ बज-कर दस मिनट हो गए हैं, तुम अभी तक नहीं चलीं ?"

दबी हुई आवाज में रेखा ने कहा, "हाँ डॉक्टर, मैं नहीं आई, और मैं आ भी नहीं रही हूँ। तुम मेरा टिकट वापस कर दो।"

"यह कैसा पागलपन, रेखा। यह भावनात्मक दुर्बलता का समय नहीं है। तुम कदम उठा चुकी हो, टिकट अब नहीं वापस हो सकता। एकदम चल दो, मैं तुम्हारा इन्तजार कर रहा हूँ।"

"नहीं डॉक्टर। मेरा इन्तजार अब न करो। इस बीमारी और मौत के मुँह में पड़े आदमी को छोड़कर मैं नहीं आ सकूँगी, इसको मैंने अपनी इच्छा से वरण किया है, अन्त तक इस आदमी का साथ निभाना होगा मुझे। मुझे क्षमा करना। तुम जाओ, अगर मैं जीवित रही तो फिर मुलाकात होगी, नहीं तो मरने के बाद—अगर मरने के बाद मुलाकात हो सकती है।"

"पागलपन न करो, रेखा। मैं कहता हूँ कि यह केवल भावुकता है, इसमें कोई सार नहीं है।"

"नहीं डॉक्टर, तुम अकेले ही जाओ अब, भगवान् तुम्हारा भला करें।" रेखा रिसीवर टेलीफोन पर पटककर वहीं बैठ गई। उसकी हिचकियाँ बँध गईं। कितने प्रयत्न से, कितना सहन करके उसने जो कुछ बनाया था, एक क्षण में उसने तोड़कर रख दिया, उसने अपने प्रेम की हत्या कर दी।

इस हालत में वह प्रभाशंकर के सामने नहीं जा सकती थी, वह सीधी रसोईघर में चली गई। अच्छी तरह से अपना मुँह धोकर और प्रभाशंकर का खाना लगाकर वह प्रभाशंकर के कमरे में लौटी, "लीजिए, साढ़े नौ बज रहे हैं, अब आप खाना खा लीजिए।"

"अरे हाँ, आज खाने में कुछ देर हो गई।" प्रभाशंकर खाना खाने बैठ गए। खाना खा चुकने के बाद उन्होंने पूछा, "किसका फोन था वह ?"

"गलत नम्बर लग गया था।" रेखा ने जवाब दिया।

प्रभाशंकर लेट गए। एकाएक उन्होंने पूछा, "देवकी ने चौदह तारीख को आने को कहा था, आज सत्रह तारीख है। अभी तक नहीं आई।"

"वह बीस तारीख को आ रही है। परसों उसका पत्र मिला था मुझे, अब इलाहाबाद में उसका है ही कौन। वह अपने बच्चों को साथ लेकर यहाँ रहने आ रही है, तो वहाँ की गृहस्थी उखाड़ने में कुछ समय तो लगता ही।"

"अपने बच्चों को लेकर यहाँ रहने आ रही है, यह कैसे हो सकता है ? उसकी मुझसे तो ऐसी बात नहीं हुई ।"

"मैंने उससे कहा है । उस बेचारी के तो ध्यान में ही यह नहीं आया था ।"

"तुम यह सब कहने वाली कौन होती हो ? यह तुमने क्यों कहा ?"

"इसलिए कि देवकी के बच्चे आपके ही तो बच्चे हैं···"

रेखा ने अपनी बात पूरी भी न की थी कि प्रभाशंकर भड़क उठें, "निकल यहाँ से हरामज़ादी कहीं की । अपने कलंक को लेकर रहूँ मैं, तू यह चाहती है । आने दे देवकी को···" और प्रभाशंकर ने अपनी आँखें बन्द कर लीं ।

मर्माहत-सी रेखा कमरे के बाहर निकल आई । उसने घड़ी देखी, दस बजकर दस मिनट हो चुके थे ।

तो इस पशु के साथ रहने के लिए, इस स्वार्थी और अपने में केन्द्रित मनुष्य की सेवा करने के लिए वह अपना जीवन नष्ट कर रही है ।

पागल की तरह अपना सूटकेस लेकर वह बाहर निकली । पालम पैंतालीस मिनट में वहाँ से पहुँचा जा सकता है । अभी समय है ।

कार पर सूटकेस रखकर वह स्टियरिंग ह्वील पर बैठ गई और उसने कार स्टार्ट कर दी ।

पालम—कुल पन्द्रह मील की दूरी । वहाँ वह कार एयरपोर्ट के अधिकारियों के सुपुर्द कर देगी । दूसरे दिन वह प्रभाशंकर के यहाँ पहुँचा दी जाएगी रात का समय, सुनसान रास्ता । वह पहुँच सकती है, वहाँ इस पशु से मुक्ति पा सकती है, वहाँ वह इस नरक से मुक्ति पा सकती है ।

तेज़ी के साथ वह चली जा रही थी, और समय उससे भी अधिक तेज़ी के साथ चल रहा था । उसमें और समय में दौड़ हो रही थी । समय, इसी समय का तो दूसरा नाम काल है । इस काल से कौन जीत सका है ? कशमीरी गेट, लाल किला, दरियागंज हर जगह बाधाएँ, अनगिनती बाधाएँ । और काल की गति अबाध है, वह तो निरन्तर चलता रहता है ।

वह पालम एयरोड्रोम के पास पहुँच रही थी । दूर से उसे एमरोड्रोम की बीकन लाइट दिखाई दे रही थी, और उसने घडी देखी : ग्यारह बज रहे थे । उसने कार और तेज की ।

वह मना रही थी कि हवाई जहाज़ देर से छूटे यहाँ से । सामने एयरोड्रोम का फाटक दीख रहा था । उसने कार रोकी । एक आवाज कारवाली बन्द हुई, दूसरी आवाज़, बहुत अधिक तेज़, बहुत अधिक कर्कश, बहुत अधिक भयानक उसे सुनाई दी । तेज़ी से वह कार से उतरी और उसने देखा कि हवाई जहाज़ ज़मीन से ऊपर उठ रहा है । रेखा खड़ी हो गई । घोर निराशा, जिसमें वह अपनी चेतना खो बैठी । और फिर आप ही आप उसने हवाई जहाज़ की ओर अपने हाथ जोड़ दिये—योगेन्द्रनाथ को आखिरी विदा देने के लिए ।

यंत्र की भाँति वह गाड़ी में बैठ गई और उसने अपनी कार घर की ओर मोड़ दी । नियति ने जो मार्ग उसके लिए निर्धारित किया है, वह उससे नहीं हट सकेगी । उस नियति के विधान के प्रति आत्मसमर्पण, उस घुटन, उस कुंठा को प्राणों से हमेशा-हमेशा के लिए चिपटाए रखना, जिसको उसने वरण किया है । उसके अन्दर अब सब कुछ बुझ

गया है। एक अभेद्य और गहन अन्धकार, इसी में उसे रहना है।

उसने बंगले में प्रवेश किया और एक आशंका से वह सिहर उठी। कम्पाउंड में एक कार खड़ी थी, घर के अन्दर से कुछ आवाज़ें आ रही थीं। घबराकर प्रभाशंकर के कमरे की ओर दौड़ी। और रेखा को देखते ही बनवारी फूट पड़ा, "आप कहाँ थीं बीबी-जी ? साहेब ज़मीन पर पड़े आपको पुकार रहे थे।"

रेखा ने देखा कि दरवाजे के पास जमीन पर प्रभाशंकर पड़े हैं। फटी-फटी सी उनकी आँखें और मुँह ऐंठा हुआ। रेखा ज़मीन पर बैठ गई। प्रभाशंकर का सिर अपने घुटनों पर रखते हुए उसने कहा, "मैं आ गई हूँ।"

तभी उसे दूसरी आवाज सुनाई दी, "इनकी मृत्यु हो चुकी है मिसेज़ शंकर।"

रेखा ने देखा कि कमरे में डॉक्टर कपूर खड़े हैं। उसने कहा, "इनकी मृत्यु ! क्या कह रहे हैं, डॉक्टर साहेब ? आप कब आये ? आपने इन्हें बचाया नहीं ?"

"मैं अभी पाँच मिनट पहले आया हूँ। बनवारी ने मुझे फोन किया था और मैंन यहाँ आकर देखा कि इनकी मृत्यु हो चुकी है। बड़ा सीरियस हार्ट अटैक हुआ था इन्हें। तत्काल मृत्यु हुई इनकी।"

"इनकी मृत्यु हो गई, डाक्टर साहब !" रेखा ने प्रभाशंकर का सिर फिर ज़मीन पर रख दिया, "यह भी चल दिए !"

और फिर एकाएक चीखकर रेखा उठ खड़ी हुई, "वह हवाई जहाज़ पर भागा जा रहा है, भागा जा रहा है, और इनकी आत्मा अपनी समस्त कटुता और हिंसा को बटोरे हुए उसका पीछा कर रही है।"

डाक्टर कपूर ने घबराकर कहा, "मिसेज़ शंकर ! होश में आइए।"

और रेखा हँस रही थी, "मैं होश में हूँ, डाक्टर। आप सार्टीफिकेट दे दीजि-एगा कल सुबह। आप जानते हैं, नियति ने मेरे साथ बहुत खिलवाड़ किया है, लेकिन मैं रेखा हूँ, रेखा। सब मिट गए, लेकिन यह रेखा—मिट-मिटकर भी यह अमिट है। जाइए, अब सोइए जाकर।"

डाक्टर कपूर ने बनवारी को देखा, जैसे वह कहना चाहते हों, "यह पागल हो गई है या हो रही है, इन्हें सम्हालो।" और फिर सिर झुकाए हुए वह कमरे के बाहर हो गए। लेकिन रेखा की वह पागलपन की हंसी उनके कानों में गूंज रही थी।

—'रेखा' से

नूरजहाँ की क़ब्र पर

"और। और !" की ध्वनि प्रतिध्वनि है, "और ! और ! कुछ और !"
तृप्ति असम्भव है, चलने दो उन प्यालों के दौर
कि जिनके पीने ही के साथ
धधक उठती है प्यास !
झुक-झुक पड़ते हैं पागल से, आह क्षणिक उल्लास
आत्मविस्मृति का यह उपहास !

महत्त्वाकांक्षा ! उफ़् उन्माद !
हुआ जिसको तेरा आभास,
उठा ऊँचे बनकर उत्साह,
गिरा नीचे बनकर निःश्वास !
पराजय की सीढ़ी है विजय !
अरे भ्रम है भ्रम है विश्वास !

... ...

उच्च शिखर था आकांक्षा का, नीचे था अज्ञात !
खेल रहा था वहाँ परिस्थिति का वह झंझावात
कि जिसके चक्कर में पड़कर
विजय बन जाती व्यंग
तुम्हें गर्व था उस यौवन पर, था अनुकूल अनंग;
आह दीपक पर मुग्ध पतंग !

अचानक पल भर में ही देवि
लोप हो गया सकल रस रंग;
झुक गया माथ: गिर पड़ा मुकुट
व्यर्थ हो गया भृकुटि-सारंग;

गिराया जहाँगीर को किन्तु
गिरीं तुम भी तो उसके संग !

... ...

ऐ रजकण के ढेर तुम्हारा है विचित्र इतिहास !
तुम मनुष्य की उन अभिलाषाओं के हो उपहास
कि जिनका असफलता है अन्त
और आशा जीवन !
बना अजान खंड ही यह लो आज तुम्हारा सदन
कभी उत्थान, कभी है पतन।

वासनाओं का यह संसार
भयानक भ्रम का है बन्धन;
और इच्छाओं का मण्डल
आदि से अन्त रुदन है रुदन,
एक अनियंत्रित हाहाकार
इसी को कहते हैं जीवन।

... ...

—(कविता के कुछ अंश)

देखो, सोचो, समझो !

देखो. सोचो, समझो, सुनो, गुनो औ जानो ।
इसको, उसको, सम्भव हो निज को पहचानो ।
लेकिन अपना चेहरा जैसा है रहने दो ।
जीवन की धारा में अपने को बहने दो ।
तुम जो कुछ हो वही रहोगे, मेरी मानो ।

वैसे तुम चेतन हो, तुम प्रबुद्ध ज्ञानी हो ।
तुम समर्थ, तुम कर्ता, अतिशय अभिमानी हो ।
लेकिन अचरज इतना, तुम कितने भोले हो ।
ऊपर से ठोस दिखो, अन्दर से पोले हो ।
बनकर मिट जाने की तुम एक कहानी हो ।

पल में रो देते हो, पल में हँस पड़ते हो ।
अपने में रमकर तुम अपने से लड़ते हो ।
पर यह सब तुम करते इस पर मुझको शक है ।
दर्शन, मीमांसा, यह फुरसत की बकझक है ।
जमने की कोशिश में रोज़ तुम उखड़ते हो ।

थोड़ी-सी घुटन और थोड़ी रंगीनी में,
चुटकी-भर मिरचे में, मुट्ठी-भर चीनी में,
जिन्दगी तुम्हारी सीमित है, इतना सच है;
इससे जो कुछ ज्यादा, वह सब तो लालच है;
दोस्त उम्र कटने दो इस तमाशबीनी में ।

धोखा है प्रेम बैर, इसको तुम मत ठानो।
कड़ुवा या मीठा रस तो है, छककर छानो,

चलने का अन्त नहीं, दिशा-ज्ञान कच्चा है!
भ्रमने का मारग ही सीधा है, सच्चा है!

जब-जब थककर उलझो, तब तब लम्बी तानो।

सामर्थ्य और सीमा

मनुष्य का यह दावा है कि वह सक्षम है, समर्थ है। हिमालय की तराई में घने जंगलों के बीच में बना हुआ एक छोटा-सा स्टेशन, जो दोपहर के बाद वाली ढलती धूप में भी बुरी तरह जल रहा था, मानो मनुष्य के इस दावे का प्रमाण था। प्रकृति इस मनुष्य के वश में है, वह इस प्रकृति को मनचाहा नवीन रूप देता है, वह इस प्रकृति के साथ न जाने कितने खिलवाड़ करता है। तराई का वह जंगल भी तो उसी प्रकृति का एक भाग था।

पता नहीं जंगल में भी प्राण होते हैं या नहीं। वैसे जन्म लेना, मरना, शैशव, युवावस्था और वृद्धावस्था, जीवन के सब चिह्न जंगल में होते हैं। न जाने कितने पशु-पक्षी इन जंगलों की गोद में आश्रय लिये हुए हैं। कभी भयानक रूप से क्रुद्ध और उबलते हुए और कभी निष्प्राण से, सूखे हुए नदी-नाले। ये सब जंगल के भाग हैं और जंगल के अन्दर इन अनगिनती प्राणियों में जीवन-मरण का संघर्ष चला करता है। रोज़ ही जन्म होते हैं, रोज़ ही मृत्यु के फेरे लगते हैं। जीवन-मरण की सीमाओं में बद्ध जो प्रकृति का क्रम है वह तो चलता ही रहता है।

लेकिन जैसे मनुष्य प्रकृति का भाग न होकर प्रकृति से भिन्न कोई स्वतन्त्र सत्ता है। प्रकृति के नियमों और प्रकृति के क्रम में बँधा हुआ होते हुए भी वह प्रकृति पर शासन करता है। अपनी उस विजय और अपने उस शासन के प्रतीक के रूप में उसने उस सुमना नाम के रेलवे स्टेशन का निर्माण किया है।

आज जहाँ सुमना स्टेशन है, पचास साल पहले वह स्थल मनुष्य के लिए अगम्य समझा जाता था। शेर, हाथी, रीछ, साँप, अजगर, विषैले कीड़े, मच्छर और इन सबके साथ एक-दूसरे से उलझे हुए छोटे-बड़े पेड़—यही सब-कुछ था वहाँ पर। यह नहीं कि उस स्थान का पता आदमी को न रहा हो। हज़ारों-लाखों वर्ष पहले समस्त तराई को पार करके उसकी दूसरी ओर ऊँचे-ऊँचे पर्वतों पर वह पहुँच चुका था। हज़ारों-लाखों वर्ष से वह इस समस्त प्रान्त से परिचित रहा है। शायद हज़ार-दो हज़ार वर्ष पहले वहाँ उस जंगल का नामनिशान भी न रहा हो, वहाँ लोग रहते रहे हों। सभ्यता के कुछ अवशेष इधर-उधर मिल भी जाते हैं। पर उस सुदूर भूत का निश्चित रूप किसने देखा है? दावे के साथ किसी बात का कह देना असम्भव है। जो निश्चय है,

यह है निकट भूत। किस तरह मनुष्य इन जंगलों में लड़ा, किस तरह उसने तिल-तिल करके इस जंगल पर विजय पाई और किन कारणों से उसने इस जंगल के एक बहुत बड़े भाग को सुरक्षित छोड़ दिया, इतना सबको ज्ञात है।

मनुष्य प्रकृति से अलग एक स्वतन्त्र सत्ता है, यह केवल अर्ध सत्य है। अन्य प्राणियों की भाँति मनुष्य भी प्रकृति से ही उभरा है, उसका समस्त अस्तित्व इस प्रकृति का ही एक भाग है। हाड़, माँस, मज्जा—ये सब प्रकृति से ही बने हैं। मनुष्य भौतिक प्राणी रहा है; मनुष्य हमेशा भौतिक प्राणी रहेगा। अनादि काल से वह जन्म-मरण के संघर्षों से उलझा रहा है, अनन्त काल तक वह इन संघर्षों से उलझा रहेगा। आदि मानव इन्हीं जंगलों का एक भाग था। वहीं उसने अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखने के लिए प्रकृति पर विजय पाने की योजना बनाई; वहीं से उसने इन जंगलों को अपने से अलग मानकर, इनसे अपने अनन्तकालीन युद्ध का श्रीगणेश किया।

इस सुमना नाम के स्टेशन से उत्तर-पूर्व में प्रायः चालीस मील की दूरी पर, जहाँ से हिमालय की पर्वत श्रेणियाँ आरम्भ होती हैं, एक बड़ा-सा क़स्बा है, जिसका नाम यशनगर है। उत्तर प्रदेश के मैदानों से इस बस्ती का पुराना सम्पर्क रहा है। इन जंगलों के बीच से होकर न जाने कब से मनुष्य हिंस्र पशुओं का मुक़ाबला करता हुआ यशनगर और उसके दक्षिण-पूर्व में बसे हुए नगर ज्ञानपुर से सम्पर्क स्थापित किए हुए था। रास्ते में बड़े-बड़े नद पड़ते हैं, भूमि ऊँची-नीची है और इसलिए साल में छः महीने ज्ञानपुर और यशनगर के बीच कोई रास्ता नहीं रहता। पर मनुष्य ने इसकी चिन्ता कब की? वह तो फैलता रहा है, वह फैलता रहेगा। यशनगर के आस-पास पहाड़ों पर, घाटियों में, जहाँ भी मनुष्य को स्थान मिल गया वहाँ उसने अपनी बस्तियाँ बना डालीं और वहीं से उसने आगे फैलना आरम्भ कर दिया। लोगों ने खेती की, लोगों ने व्यवसाय किए और इसके साथ-साथ लोग शिकार करते रहे। इस सबके साथ लोगों ने आदान-प्रदान आरम्भ किया।

यह आदान-प्रदान ही मानव सभ्यता का मूल स्रोत है; इस आदान-प्रदान के लिए ही मनुष्य ने पहाड़ों को लाँघकर और सागरों को पार करके दुनिया के हरेक कोने का पता लगाया। इस आदान-प्रदान की क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप में न जाने कितने युद्ध लड़े गए, न जाने कितने देश बरबाद किये गए, न जाने कितनी सभ्यताएँ नष्ट की गईं। और यह आदान-प्रदान चल रहा है, चल रहा है।

□□

लड़खड़ाते पैरों से मेजर नाहरसिंह ने अपने कमरे में प्रवेश किया, और कमरे में पहुँचते ही उन्होंने एक भयानक घुटन अपने मन में अनुभव की। उन्होंने कमरे की सब खिड़कियाँ खोल दीं। हलकी-हलकी हवा बह रही थी। लेकिन उस कमरे के अन्दर वाली घुटन उन खिड़कियों के खुलने से भी दूर नहीं हुई। यह घुटन उनके अन्दर की थी, इसका शायद उन्हें ज्ञान न था। बाहर गहरा अन्धकार छाया हुआ था, आसमान पर थोड़े से सितारे टिमटिमा रहे थे। कुछ देर मेजर नाहरसिंह बाहर वाले गहरे अन्धकार में अपनी आँखें गड़ाए रहे, फिर थककर वह अपनी कुरसी पर बैठ गए। घुटन उनके प्राणों में उसी तरह भरी हुई थी।

एक अजीब तरह की पराजय की भावना और उससे भी अधिक गहरी थकावट से भरी निष्क्रियता और विवशता वह अपने अन्दर अनुभव कर रहे थे। उन्हें ऐसा अनुभव हो रहा था कि उनका सिर फटा जा रहा है, उनकी आँखें निकली आ रही हैं। जीवन में पहले कभी नहीं हुआ था ऐसा उन्हें। सत्तर साल का लम्बा जीवन घटनाओं से भरा हुआ, लेकिन यह अनुभव उनके लिए एकदम नया था। सब-कुछ असह्य-सा था उनके लिए। अपनी आँखें मूंदकर उन्होंने अपने माथे को दोनों हाथों से कसकर दबाया अपने सिर की पीड़ा कम करने के लिए। लेकिन इससे पीड़ा और भी बढ़ गई। घबराकर उनके अपने हाथ ढीले पड़ गए और उन्होंने अपनी आँखें खोल दीं। उठकर उन्होंने एक गिलास पानी पिया और उनके अन्दर एक तरह की ठंडक पहुँची। वह लौटकर फिर अपनी कुरसी पर बैठ गए। उनके अन्दर वाली शिथिलता बढ़ती जा रही थी।

वह सोच रहे थे; लगातार सोच रहे थे। पर वह क्या सोच रहे थे, इसका पता स्वयं उनको न था। एक-दूसरे से भिन्न, टूटे हुए और उखड़े हुए विचार उनके अन्दर आते थे और इसके पहले कि वह किसी एक विचार को पकड़कर उसमें अपने को केन्द्रित कर सकें, वे विचार उनके अन्दर एक अस्पष्ट-सी पीड़ा बनकर लोप हो जाते थे। इन अनगिनती विचारों की अनगिनती पीड़ाओं की जलन। जलन, जलन, जलन। उन्हें लग रहा था कि अन्दर-बाहर उनके चारों ओर अनगिनती ज्वालाएँ जल रही हैं। उस जलन से उनकी चेतना झुलसी जा रही है, उनके प्राण झुलसे जा रहे हैं और उस जलन का कोई अन्त नहीं।

'टिक टिक टिक टिक' दीवार पर लगी हुई घड़ी चल रही थी और वह टिक टिक की आवाज उनके कानों से टकरा रही थी। टिक टिक टिक समय बीत रहा था, और अचानक ही उन्हें अनुभव हुआ कि हरेक 'टिक' उन्हें अन्त के और निकट लाता जा रहा है। अन्त, निश्चित अनिवार्य अन्त, जिसे न जानने के कारण लोग उससे बुरी तरह डरते हैं। और उन्हें घड़ी की इस टिक टिक पर झुंझलाहट हुई। समय को बिताने वाली यह घड़ी, किसने इसे टाँगा है वहाँ और इसे टाँगा ही क्यों गया है? और फिर एका-एक उन्हें एक क्षीण और अस्पष्ट-सी टिक टिक की आवाज़ कहीं और से आती हुई सुनाई दी। रात्रि की इस भयानक नीरवता में यह टिक टिक की दूसरी आवाज़ कहाँ से आ रही है? सतर्क होकर उन्होंने इस दूसरी आवाज़ का पता लगाने का प्रयत्न किया और वह सहम गए। घबराकर उन्होंने अपनी आँखें बन्द करके अपना सर पकड़ लिया।

यह टिक टिक की दूसरी आवाज़ उनके अन्दर से आ रही थी, उनके हृदय की धड़कन की आवाज़ के रूप में। समय बीत रहा है और हरेक टिक की आवाज़ के साथ अन्त उनके नज़दीक आता चला जा रहा है। यह अन्त, मृत्यु का अदृश्य और अज्ञात अन्त। समय की माप का यह यंत्र उनके शरीर के अन्दर ही मौजूद है, उनके जन्म लेते ही उस यंत्र ने अपना काम शुरू कर दिया था, और मृत्युपर्यन्त यह यंत्र लगातार बिना किसी बाधा के, बिना किसी विराम के काम करता जाएगा। घड़ी की इस टिक टिक की आवाज़ में और उनके हृदय की धड़कन में कितना साम्य था और दोनों ही आवाज़ें एक-दूसरे से टकराकर कितनी भयानक बन गई थीं।

'टन टन टन' घड़ी ने तीन बजाये और चौंककर मेजर नाहरसिंह ने अपनी आँखें खोल दीं। अब मेजर नाहरसिंह को अनुभव हुआ कि रात के तीन बज गए हैं।

दिन निकलने में कुल तीन घण्टे बाक़ी हैं। कितनी तेज़ी के साथ यह समय बीत रहा है। इस समय को सेकन्ड, मिनट, घण्टे, दिन-रात, महीनों, वर्षों, सदियों, युगों और मन्वन्तरों में विभक्त किया है मानव ने। अपनी सीमा को लेकर आने वाला यह अहम् और दर्प से युक्त मानव इस अखंड और निःसीम काल को सीमाओं में विभक्त करता चला जा रहा है। और एकाएक मेजर नाहरसिंह के अन्दर वाली ग्लानि जाती रही, उनके मुख पर एक हलकी मुसकान आई, "मूर्ख कहीं के। इस समय को भी भला कोई विभक्त कर सका है? निःसीम की कहीं सीमा निर्धारित की जा सकती है? इस काल के ऊपर भला किसी का अधिकार है? असीम, अक्षय। यह काल हरेक को खा लेता है, इसकी क्षुधा का कोई अन्त नहीं है। इस काल से भला कोई लड़ सकता है या कोई लड़ सका है? इस काल को विभक्त करके उसे नापने का प्रयत्न करने वाली यह घड़ी स्वयं काल का ग्रास बन जाएगी। राजभवन के कूड़ेखाने में न जाने कितनी टूटी हुई बेकार घड़ियाँ पड़ी थीं। एक दिन यह घड़ी भी उसी ढेर में डाल दी जाएगी। इस घड़ी को बनाने वाला भी कितना मूर्ख था।

और, और उसी समय उनका ध्यान उनके हृदय से आने वाली टिक टिक की आवाज़ पर गया। इस हृदय-रूपी यंत्र को किसने बनाया? क्या वह भी मूर्ख है? समस्त अस्तित्व मानव का इस हृदय की धड़कन पर अवलम्बित है। न जाने कितने हृदय पिण्ड अब तक जलकर राख हो चुके हैं, न जाने कितने हृदय पिण्ड क़ब्रों के अन्दर दबे पड़े हैं। और फिर भी 'टिक टिक' करने वाले यह हृदय पिण्ड, इन्हीं के कारण मानव का अस्तित्व है।

मेजर नाहरसिंह घड़ी और हृदय की इन आवाज़ों की तुलना में उलझ गए। वह क्षणिक मुसकान, जो उनके मुख पर आई थी, लोप हो गई। उन्होंने फिर अपने अन्दर रेंगती हुई व्यथा का अनुभव किया। कहीं कोई उत्तर नहीं मिल रहा है उनकी किसी भी बात का। जो कुछ है वह सब अजीब तरह से अस्पष्ट, धुँधला-धुंधला और उलझा-उलझा-सा है। किसी शंका का कोई समाधान नहीं, किसी भ्रम का कोई निदान नहीं। फिर जीवन की सार्थकता क्या है? इस सृजन का लक्ष्य क्या है? इस अस्तित्व का उद्देश्य क्या है?

और मेजर नाहरसिंह अपने ही से कह उठे, "कोई सार्थकता नहीं, कोई लक्ष्य नहीं, कोई उद्देश्य नहीं है किसी चीज़ का। पैदा होना और मर जाना, बनना और बिगड़ जाना। और इन दोनों के बीच की अवधि में जो कुछ होता है उस पर भी तो हमारा कोई वश नहीं। अनगिनती देखी-अनदेखी, जानी-अनजानी शक्तियाँ काम आ रही हैं, ये शक्तियाँ आपस में मिलती हैं, आपस में टकराती हैं; कहीं संघर्ष है, कहीं समन्वय है। और इस प्रकार सब-कुछ होता चला जाता है, होता चला जाएगा। फिर यह सृजन और विनाश की लीला क्यों? और मेजर नाहरसिंह के हाथ एक-दूसरे से जुड़कर आकाश की ओर उठ गए, उनकी आँखों में आँसू भर आए।

फिर अनायास ही मेजर नाहरसिंह फूट पड़े, "हे भगवान्, दया करो, बचाओ, बचाओ। यह क्या होने वाला है और क्यों होने वाला है? तुम करुणामय हो, तुम नियन्ता हो। तुम्हीं ने तो यह सृजन किया है। यह जो आशंका मेरे मन में भर गई है, जो कुछ मुझे यदा-कदा दिख जाया करता है, अपने इस अभिशाप को खींच लो। कौन-सा अपराध किया है हम लोगों ने? हमारे किस पाप का दंड देने वाले हो? बोलो, हे

सकल सृष्टि के स्वामी, उत्तर दो। यह सब क्यों कर रहे हो ?" और मानो मेजर नाहर सिंह उस अदृश्य से किसी स्पष्ट उत्तर की प्रतीक्षा करने लगे।

काफ़ी देर तक वह हाथ जोड़े हुए आकाश की ओर देखते रहे किसी उत्तर की प्रतीक्षा में, और फिर उन्होंने अपनी आँखें नीची कर लीं, "नहीं उत्तर दोगे ? तो फिर यह समझ लूँ कि तुम्हारे पास भी कोई उत्तर नहीं है ? तुम भी उतने विवश हो जितने हम हैं ? अपनी सृष्टि की कुरूपता तुम नहीं दूर कर सकते ? या फिर यह कुरूपता स्वयं में तुम्हारा ही एक भाग है ? तुम स्वयं एक नियम और क्रम में बँधे हुए हो, तो फिर तुम स्रष्टा कैसे ? तुम समर्थ कहाँ से हुए ? तुममें किसी क्रम को बदल सकने की क्षमता ही नहीं है। फिर तुम्हारी पूजा और तुम्हारी उपासना की सार्थकता ही क्या है हम लोगों के लिए ?"

और एकाएक मेजर नाहरसिंह की समस्त उत्तेजना जाती रही। थककर वह कुर्सी की पीठ से टिक गए। नि:शक्त और शिथिल से वह थोड़ी देर तक बैठे रहे, फिर वह अपने ही आप बुदबुदाए, "मैं जानता हूँ कि तुम मुझे उत्तर नहीं दोगे, तुम कोई उत्तर दे भी नहीं सकोगे। तुम विधाता अवश्य हो, और तुमने एक विधान बनाया है जिसके अनुसार यह समस्त सृष्टि संचालित होती है। उस विधान के प्रतिकूल कुछ हो ही नहीं सकता, अपने ही बनाए हुए विधान से तुम विवश हो।"

मेजर नाहरसिंह ने आँखें खोल दीं, थकी दृष्टि से उन्होंने खिड़की के बाहर देखा। अन्धकार की कालिमा जैसे पिघलने लगी थी। मेजर नाहरसिंह कह उठे, "तो फिर जो कुछ होना है वह होगा ही। वह हो चुका है। उसे न तुम रोक सकोगे, न मैं रोक सकूँगा, वह तो सब हमारे आगे आएगा ही। लेकिन कब ? और अगर वह सब बिना बताए आता तो मेरे लिए वह अच्छा होता। मुझे अपना आभास देने की क्या आवश्यकता थी उसे ?" और यह कहते-कहते मेजर नाहरसिंह चौंक उठे। दूर उन्हें एक हलका-सा धमाका सुनाई पड़ा और इसके बाद उन्हें किसी अजगर के फुफकारने की सी आवाज़ सुनाई दी। उन्होंने कान लगाकर सुना, आवाज बढ़ती ही जा रही थी। थोड़ी देर बाद उन्हें ऐसा लगा जैसे सैकड़ों अजगर एक साथ फुफकार रहे हों।

मेजर नाहरसिंह उठ खड़े हुए। उनके माथे पर बल पड़ गए, उनके मुख पर दृढ़ता से भरा एक संकल्प आ गया। अपना बाइनाकुलर निकालकर उन्होंने अपने कंधे पर लटकाया, और तेज़ी से वह कमरे के बाहर निकले। जिस ओर से आवाज़ आ रही थी उधर जाकर देखना होगा कि बात क्या है। राजभवन के फाटक वाला चौकीदार डरा हुआ खड़ा था। मेजर नाहरसिंह को देखते ही उसने हाथ जोड़े। मेजर नाहरसिंह ने पूछा, "यह आवाज सुन रहे हो ? कहाँ से आ रही है, बता सकते हो ?"

"सरकार, अभी-अभी यह आवाज़ आनी शुरू हुई है, भगवान् जाने कहाँ से आ रही है, लेकिन बड़ी डरावनी है। रोम-रोम काँप रहा है।"

"फाटक खोलो, देखता हूँ जाकर कहाँ से यह आवाज़ आ रही है और किस चीज़ की यह आवाज़ है।"

"नहीं सरकार, आप उधर न जाएँ। भगवान जाने कौन-से जंगली जानवर आ गए हैं।" चौकीदार ने गिड़गिड़ाते हुए कहा।

"चुप रहो, जंगली जानवरों की आवाज़ को मैं अच्छी तरह पहचानता हूँ, यह जंगली जानवरों की आवाज़ नहीं है। मुझे देखना है किस चीज़ की यह इतनी भयानक

आवाज़ है और कहाँ से यह आ रही है।"

चौकीदार ने फाटक खोलते हुए कहा, "बड़ा डर लग रहा है। ऐसी आवाज़ तो मैंने जिन्दगी में पहले कभी नहीं सुनी, भगवान् जाने यह किसकी आवाज है।" और चौकीदार हटकर एक ओर खड़ा हो गया।

मेजर नाहरसिंह ने चौकीदार के सहमे से मुख को देखा, फिर हँस पड़े, "यह मौत की आवाज़ है, मौत की। नहीं बचेगा कोई इस मौत से।" और मेजर नाहरसिंह तेज़ी से फाटक से बाहर निकल आए।

□□

पूर्व दिशा में उषाकाल की अरुणिमा की रेखाएँ प्रकट होने लगी थीं, और मेजर नाहरसिंह पागल की भाँति उस आवाज़ की दिशा में उत्तर की ओर तेज़ी से बढ़ते चले जा रहे थे। यशनगर से उत्तर की ओर प्रायः दो मील की दूरी पर एक चौड़ा नाला-सा पड़ता था, पश्चिम से पूर्व की ओर जाता हुआ, और उस नाले की दूसरी ओर प्रायः एक हज़ार फुट ऊँची हिमालय की पर्वतमालाएँ खड़ी थीं, तरह-तरह के पेड़ों से लदी और ढँकी हुई। उस नाले के इस ओर मेजर नाहरसिंह रुक गए। बड़े वेग के साथ उफनता हुआ वह नाला बह रहा था। मंत्रमुग्ध-से वह कुछ देर तक उस नाले को देखते रहे। उस नाले का पानी द्रुतगति से प्रति क्षण ऊपर उठता चला आ रहा था और अचानक ही उनकी दृष्टि उस नाले को पार करती हुई प्रायः आधा मील की दूरी पर हिमालय पर रुक गई।

कुछ स्पष्ट न दिख रहा था, यद्यपि अरुणिमा का प्रकाश बढ़ता जा रहा था। मेजर नाहरसिंह ने अपना बाइनाकुलर निकाल कर उधर आँखों पर लगाया; और एक सहमी-सी चीख उनके मुँह से निकल पड़ी। उस नाले के क़रीब दो सौ फुट ऊपर पर्वत की छाती चीरकर पानी की एक छोटी-सी धारा फूट पड़ी थी। एक गज से अधिक व्यास था उस जलधारा का। वह कह उठे, "अरे, यह क्या! यह पानी कहाँ से आ रहा है!" और वह तेज़ी से लौट पड़े।

मेजर नाहरसिंह अब चल नहीं रहे थे, वह दौड़ रहे थे। जिस बँगले में देवलंकर को टिकाया गया था, उसके सामने जाते ही उनके पैर रुक गए। उन्होंने देवलंकर को जगाया, "इंजीनियर साहब, उठो, यह सोने का वक़्त नहीं है। ज़रा देखो यह क्या हो रहा है यहाँ पर। मेरे साथ चलो, प्रलय आ रही है। बचा सकते हो हम लोगों को इस प्रलय से? तुम स्वयं बच सकते हो?"

देवलंकर काफ़ी देर तक जागता रहा था। उसकी आँखों में नींद भरी हुई थी। आँखें मलते हुए देवलंकर ने मेजर नाहरसिंह को देखा, फिर वह कुछ झल्लाहट के स्वर में बोला, "क्या बात है, मेजर साहब? आप इतना अधिक घबराये हुए क्यों हैं?"

"मेरे साथ चलो इन्जीनियर साहब, जैसे हो उसी तरह। कपड़े बदलने का समय नहीं है, तुम देखो चलकर। यह आवाज़ सुन रहे हो? सैकड़ों अजगर जैसे एक साथ फुफकार रहे हों।"

अब देवलंकर का ध्यान उस आवाज़ की ओर गया। उसने उसे ध्यान से सुना,

फिर उसने जूते पहनते हुए कहा, "यह तो बड़ी विचित्र आवाज़ है मेजर साहब, क्या बात है ?"

देवलंकर का हाथ पकड़कर घसीटते हुए मेजर नाहरसिंह ने कहा, "क्या बात है ? यही तो मैं भी जानना चाहता हूँ तुमसे । चलो मेरे साथ, खुद देखो चलकर। प्रलय उमड़ रही है ।"

देवलंकर जिस समय नाले के किनारे पहुँचा, धूप निकल आयी थी । मेजर नाहरसिंह ने देखा कि पानी काफ़ी ऊँचा चढ़ आया है । जहाँ से पानी की धारा फूटी थी उधर देवलंकर को दिखलाते हुए मेजर नाहरसिंह ने कहा, "यह सारा पानी कहाँ से आ रहा है, बता सकते हो ? यहाँ पहले कभी कोई धारा नहीं थी । पहाड़ की छाती फाड़ कर यह धारा प्रकट हुई है यशनगर को नष्ट करने के लिए ।" नाहरसिंह ने अपनी बात पूरी भी न की थी कि एक हलके-से धमाके के साथ उस धारा के पश्चिम की की ओर करीब दो फर्लांग की दूरी पर एक दूसरी धारा फूट पड़ी, पहली धारा से भी मोटी। मेजर नाहरसिंह चिल्ला उठे, "अरे इन्जीनियर साहब, वह देखा तुमने ?"

देवलंकर का चेहरा पीला पड़ गया यह सब देखकर । उसने दबी हुई ज़बान में पूछा, "मेजर साहब, क्या इस पर्वतमाला के पीछे रोहिणी की घाटी है ?"

देवलंकर का प्रश्न सुनकर मेजर नाहरसिंह चिल्ला उठे, "आ गया समझ में इंजीनियर साहब, मैंने तुमसे क्या कहा था ? रोहिणी अपना बदला ले रही है, उसने प्रहार कर दिया है हम लोगों पर । इस पर्वतमाला के ठीक पीछे रोहिणी की घाटी आरम्भ होती है। तो यह रोहिणी का जल है इंजीनियर साहब, निश्चय ही यह रोहिणी हम लोगों से अपना बदला लेने आयी है।"

देवलंकर ने सहमी दृष्टि से ध्यानपूर्वक उस पहाड़ को देखा जिससे यह धारा फूटी थी, "मेजर साहब, इस समस्त प्रदेश को बहुत बड़ा खतरा है । यह पहाड़ कच्चा है, यह पानी के दबाव को नहीं सहन कर सका । जिस गति से यह पानी निकल रहा है उससे तो ऐसा लगता है तीन-चार घंटों में ही यह नगर जलमग्न हो जाएगा । चलिए, अभी समय है कि हम लोग यहाँ से भाग चलें ।" देवलंकर ने पीछे मुड़ते हुए कहा । इसी समय एक और धमाका हुआ और इन दोनों धाराओं के बीच में एक तीसरी धारा फूट पड़ी ।

नाले का पानी तेज़ी के साथ चढ़ रहा था और जहाँ ये दोनों खड़े थे वहाँ से करीब दो फुट नीचे रह गया था । दोनों तेज़ी के साथ पीछे लौटे । देवलंकर ने आते ही सब लोगों को जगाया । जोखनलाल, मकोला, मंसूर, शर्माजी, ज्ञानेश्वरराव, सभी इकट्ठे हुए । "क्या बात है ? आप लोग इतना घबराये हुए क्यों हैं ?" जोखनलाल ने इन दोनों से पूछा ।

देवलंकर ने उत्तर दिया, "आप लोग जल्दी से जल्दी यहाँ से भागिए । देख रहे हैं आप वहाँ उत्तर की ओर, पहाड़ से पानी की धाराएँ फूट निकली हैं । रोहिणी नदी ने अपनी घाटी में जो झील बनाई थी उसे यशनगर के उत्तरवाला कच्चा पहाड़ नहीं सँभाल सका । भागिए आप लोग जल्दी-से-जल्दी, पानी बढ़ता चला आ रहा है, देख रहे हैं आप लोग ?"

दूर पर पानी की एक चादर-सी लहराती हुई दिखाई दे रही थी । सब लोग भयभीत से उधर देखने लगे । इसी समय रानी मानकुमारी रघुराजसिंह के साथ उस

स्थल पर आकर खड़ी हो गईं। पानी इनकी ओर बढ़ा चला आ रहा था। रानी मानकुमारी भी चिल्ला उठीं, "अभी तक आप लोग खड़े क्यों हैं? भागिए, भागिए आप लोग। हे भगवान्, यह क्या हो रहा है? कक्काजी, आपकी भविष्यवाणी पूरी हो रही है। यशनगर के खँडहर लोगों को ढूँढ़ने पर भी न मिलेंगे। यही तो कहा था राजा साहब से आपने।"

मेजर साहब चुपचाप निश्चेष्ट से खड़े थे, मानो उनकी वाणी उनसे छिन गई हो। वह फटी हुई आँखों से अपनी ओर बढ़ने वाली पानी की चादर को देख रहे थे। उनके मुख पर एक प्रकार का भय अंकित था।

रघुराजसिंह ने अपने पिता का हाथ झकझोरा, "ददुआ, आप चुप क्यों हैं, बोलते क्यों नहीं? बताइए, क्या किया जाए?"

उत्तर देवलंकर ने दिया, "कुछ भी नहीं किया जा सकता है अब सिवा भागने के। नगरवालों को इस खतरे की सूचना दे दी जाय जिससे वे भागकर अपनी रक्षा करने का उपाय तो कर सकें।"

और रानी मानकुमारी ने रघुराजसिंह से कहा, "जेठजी, आप घोड़ा ले लीजिए। नगरवासियों को सूचना देते हुए आप जल्दी से यहाँ से निकल जाइए। हम लोगों के पास मोटरें हैं, हमारी चिन्ता मत कीजिएगा। गुम्मैत ठाकुरों का यह वंश नष्ट न होने पाए। जाइए, जेठजी, आप खड़े क्यों हैं? मैं आपको आज्ञा देती हूँ।"

रघुराजसिंह तेजी से घुड़साल की ओर भागा। रानी मानकुमारी ने जोखनलाल की ओर देखा, "मंत्रीजी, आपकी मोटर-कार है, मेरी कार है। अब आप सब लोग इसी समय सुमना की ओर चल दीजिए। उधर भूमि ऊँची है। जल्दी कीजिए, अब समय नहीं है।"

"लेकिन आप रानी साहिबा, और मेजर नाहरसिंह?" जोखनलाल ने पूछा।

अब मेजर नाहरसिंह की आवाज़ उन्हें सुनाई पड़ी, "नहीं बचोगे। तुम लोगों की मृत्यु तुम्हें इस अभिशप्त प्रदेश में खींच लाई है। देख रहे हो, पानी वह आ रहा है। मीलों तक फैली हुई वह जल की चादर अपने में सब-कुछ लपेटती हुई इधर बढ़ रही है। देख रहे हो, ये हरिण, ये जंगली पशु, ये साँप, अजगर—ये सब भागते हुए चले आ रहे हैं, मृत्यु से बचने के लिए। लेकिन यह जल की चादर इन सबको अपने में लपेट लेगी, बचेगा कोई नहीं।" और मेजर नाहरसिंह ठठाकर हँस पड़े।

मकोला ने जोखनलाल का हाथ पकड़ा, "चलो जोखनलाल, देर करने में खतरा है, अब समय नहीं है। और दोनों कार की ओर भागे। ज्ञानेश्वरराव और एलबर्ट किशन मंसूर ने भी उनका साथ दिया। मकोला स्टियरिंग ह्वील पर बैठ गए। जोखनलाल ने कहा, "शर्माजी और मिस्टर देवलंकर से भी पूछ लिया जाये।" लेकिन मकोला ने जैसे जोखनलाल की बात सुनी ही नहीं, उन्होंने कार स्टार्ट करके एक्सीलरेटर दबा दिया। कार एक झटके के साथ आगे बढ़ चली।

पानी अब वहाँ से क़रीब सौ गज़ की दूरी पर आ गया था जहाँ वे लोग खड़े थे। रानी मानकुमारी ने अब सन्तोष की एक हल्की-सी साँस ली, "वे लोग तो बच गए। देवलंकरजी और शर्माजी, आप लोग मेरी कार ले लीजिए, और आप भी भागिए यहाँ से।"

"लेकिन आप रानी साहिबा, और मेजर साहब आप, आप लोग भी हमारे साथ

चलिए।" देवलंकर ने कहा।

"आप लोग गाड़ी स्टार्ट कीजिए, हम लोग आते हैं।" रानी मानकुमारी बोलीं, "जल्दी कीजिए, अब समय नहीं है।"

आसपास भयानक कोलाहल उठ रहा था। राजभवन के सब नौकर-चाकर घबराये हुए इधर-उधर भाग रहे थे। वे लोग रानी मानकुमारी को ढूंढ़ रहे थे, मेजर नाहरसिंह को ढूंढ़ रहे थे। इन लोगों को ढूंढ़ते हुए वे लोग वहाँ आये जहाँ ये लोग खड़े थे। मेजर नाहरसिंह ने रानी मानकुमारी से कहा, "तुम भी जाओ रानी बहू, अपने प्राण बचाओ, यहाँ क्यों खड़ी हो? पानी आ पहुँचा, देख रही हो। और सुनो, मोटर स्टार्ट हो गई है, वे लोग तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

एक अजीब तरह की दृढ़ता से भरी कटुता रानी मानकुमारी के मुख पर आ गई थी, वहीं से वह चिल्लाई, "आप लोग जाइए यहाँ से। मैं बाद में आऊँगी। आप लोग मेरी चिन्ता न कीजिए।"

पानी अब राजभवन की चहारदीवारी से टकराने लगा था। मेजर नाहरसिंह का हाथ पकड़कर रानी मानकुमारी राजभवन की ओर चल पड़ीं और उन्होंने देखा कि मौलाना रियाजुलहक़ उनकी मोटर पर बैठने का प्रयत्न कर रहे हैं, लेकिन देवलंकर उन्हें रोक रहे हैं। रानी मानकुमारी ने बढ़कर देवलंकर से कहा, "आप मौलाना को भी अपने साथ ले लीजिए।"

"और आप तथा मेजर नाहरसिंह, आप लोगों को भी चलना है।" पंडित शिवानन्द शर्मा ने कहा।

रानी मानकुमारी ने यशनगर की बस्ती की ओर संकेत किया, "मेरी प्रजा को देख रहे हैं आप, इसे छोड़कर कैसे जा सकती हूँ? मेरी आप लोगों से विनय है, आप लोग चले जाइए।"

जिस सड़क पर मोटर खड़ी थी पानी अब उस पर भी चढ़ रहा था। देवलंकर ने एक ठंडी साँस ली। फिर उसने कार स्टार्ट कर दी। पलक मारते ही पचास मील प्रति घंटा की रफ्तार से गाड़ी दौड़ने लगी।

रानी मानकुमारी भारी मन से जाती हुई कार को देख रही थीं कि उसी समय एक भयानक धमाका हुआ। और उस धमाके के साथ मानो समस्त भूमि काँप उठी। घबराकर मेजर नाहरसिंह ने उत्तर दिशा की ओर देखा, धूल का बादल आकाश पर छाया हुआ था, कुछ भी नहीं दिख रहा था धूल के बादल के उस पार। भूमि के काँपने से डरकर रानी मानकुमारी चिल्ला उठीं, "भूकम्प भी आया है कक्काजी, अब क्या होगा?"

दाँत किचकिचाकर मेजर नाहरसिंह ने कहा, "यह भूकम्प नहीं है रानी बहू, जल्दी राजभवन के अन्दर चलो। मालूम होता है वह पहाड़ जिससे ये पानी की धाराएँ फूटी थीं, गिर पड़ा है। अब रोहिणी के पानी के लिये कोई रुकावट नहीं है, उसने पर्वत तक को गिरा दिया है। चलो, चलो।" और रानी मानकुमारी का हाथ पकड़कर वह राजभवन के अन्दर भागे।

भयानक आवाजें उठ रही थीं चारों ओर पहाड़ के खंड-खंड होकर गिरने की, वृक्षों के टूटने की। शेर, हाथी, रीछ शोर मचाते हुए ये सब भाग रहे थे अपने प्राणों की रक्षा करने के लिए, और पानी भयानक वेग से बढ़ रहा था। पानी अब राजभवन

की चहारदीवारी को पार करके राजभवन के अन्दर प्रवेश करने लगा था, नौकर-चाकर अपने-अपने मकानों की छत पर चढ़ गए थे। मेजर नाहरसिंह ने कहा, "ऊपर चलो रानी बहू, देख रही हो, पानी बढ़ता जा रहा है।" लेकिन उन्हें ऐसा लगा कि रानी मानकुमारी अचेतन-सी हो गई हैं। फटी-फटी आँखों से वह अपने चारों ओर देख रही हैं। जैसे उन्हें समझ में न आ रहा है कि यह सब क्या हो रहा है और क्यों हो रहा है। मेजर नाहरसिंह ने उन्हें हिलाते हुए कहा, "इस तरह संज्ञाहीन होने से तो काम नहीं चलेगा रानी बहू, चलो ऊपर।"

और रानी मानकुमारी की संज्ञा लौट आई। वह बुदबुदाई, "कक्काजी, आज मेरा जन्मदिवस है न। रोहिणी मेरे जन्मदिवस पर मृत्यु-नृत्य का नाच नाचने आई है। उसी मृत्यु-नृत्य को देख रही हूँ, कक्काजी। कितना सम्मोहन है इस नृत्य में, गरल का-सा, मेरी समस्त चेतना जैसे लुप्त हुई जा रही है।"

"हिम्मत करो रानी बहू, इस तरह पराजय स्वीकार कर लेने से तो काम नहीं चलेगा। अन्त समय तक हमें युद्ध करते रहना है इस मृत्यु से।"

"आप पुरुष हैं कक्काजी, आप युद्ध कीजिए। यह नारी तो अबला है, यह युगों-युगों से विवश और पराजित है। नारी कब स्वयं अपनी रक्षा कर सकी है? मुझे बचाइए कक्काजी, आपके हाथ जोड़ती हूँ, मुझे बचाइए।" रानी मानकुमारी के स्वर में क्रन्दन था, दीनता थी। मेजर नाहरसिंह को ऐसा लगा जैसे रानी मानकुमारी बेहोश होकर गिर पड़ेंगी।

मेजर नाहरसिंह ने रानी मानकुमारी को दोनों हाथों पर उठा लिया। कमरे के अन्दर पानी तेजी के साथ प्रवेश कर रहा था और घुटनों तक चढ़ आया था। कमरे के अन्दर लकड़ी वाला तथा अन्य हलका सामान तैरने लगा था। अपने हाथों पर रानी मानकुमारी को उठाये हुए मेजर नाहरसिंह ऊपर चढ़ने लगे। बड़ी विकट लड़ाई लड़नी पड़ेगी उन्हें, यह आभास उन्हें मिल गया था और इस युद्ध में पराजय अनिवार्य है। उन्हें कुछ क्रोध भी आ रहा था कि रानी मानकुमारी देवलंकर के साथ क्यों कार पर नहीं चली गईं, अपनी निर्बलता लेकर मृत्यु से युद्ध करने के लिए क्यों रुक गईं।

□□

रोहिणी नदी है, हिमालय पर्वत है, यशनगर इस समस्त विश्व का शासन करने वाले मनुष्यों की बस्ती है।

रोहिणी अपने समस्त वेग के साथ उमड़ती है, पर्वत उस वेग को न सँभाल सकने के कारण फट पड़ता है और यशनगर में रहनेवाले सक्षम और समर्थ मानवों का समुदाय विमूढ़ और भयभीत-सा तत्त्वों के इस भयानक संघर्ष को देखता है। बड़ी-बड़ी चट्टानें टूट-टूटकर गिरती हैं, दानवाकार वृक्ष ढह जाते हैं और जल इन सबको तोड़ता हुआ, उखाड़ता हुआ, बहाता हुआ, बढ़ता जा रहा है, बढ़ता जा रहा है। टूटती हुई चट्टानें जल पर प्रहार करती हैं, वे उस जल को सैकड़ों फुट ऊपर उछाल देती हैं। गिरते हुए वृक्ष प्रहार करते हैं इस जल पर, लेकिन इससे क्या? सब निर्बल हैं, सब अक्षम हैं। सक्षम है केवल रोहिणी का जल, और यह जल जीवन है, यह जल मृत्यु है।

जीवन की सृष्टि जल से हुई है, जीवन का अन्त भी जल ही है। प्रलय की

कल्पना जो की गई है, वह केवल जलप्लावन की ही कल्पना है जहाँ समस्त भूमि को जल निगल लेता है, जहाँ बड़े-बड़े प्रासाद धराशायी हो जाते हैं, जहाँ पर्वत टूटकर गिरते हैं, मनुष्य के लिए कोई आधार नहीं रह जाता है वहाँ टिकने के लिए, हर तरह की स्थापना नष्ट हो जाती है। जल ही जल दिखता है चारों ओर; वह जल जो मनुष्य को जीवन प्रदान करता है, जो पृथ्वी के कणों को एक में जोड़ता है, वह मृत्यु की संज्ञा धारण कर लेता है।

पंचतत्त्व से निर्मित इस मनुष्य ने हरेक तत्त्व से युद्ध किया है, हरेक तत्त्व पर विजय पाई, हरेक तत्त्व को अपने वश में करके उसका शासन किया है। उसका दावा जितना बड़ा है उतना ही झूठा भी है। इन तत्त्वों के कुछ रहस्यों को ही जान सका है वह अभी तक। असीम कृपा करके इन तत्त्वों ने इस मनुष्य को ज्ञान प्राप्त करके सुख-सुविधा जुटाने में अपना सहयोग प्रदान किया है। लेकिन जैसे ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य का दिमाग़ ही फिर गया, प्रकृति द्वारा प्रदत्त असीम कृपा और सहयोग को वह कृतघ्न होकर अपने अन्दर वाली शक्ति और क्षमता की विजय समझ बैठा। वह अपने कल्याणकारी मित्रों के सामने स्वयं एक चुनौती के रूप में खड़ा हो गया।

रोहिणी नदी है। न जाने कितने काल से रोहिणी का शीतल, निर्मल और अमृत-तुल्य जल इस मनुष्य की प्यास बुझाता रहा है, इसकी खेती को बढ़ाता रहा है, उसे जीवनदान देता रहा है। और वही रोहिणी नदी एकाएक क्रुद्ध हो उठी, वह विनाश का ताण्डव करने निकल पड़ी, वह मनुष्य को बतलाने आई कि उस पर विजय नहीं पाई जा सकती, वह अविजित है।

इन तत्त्वों में भी जीवन है, इन तत्त्वों में भी चेतना है, इन तत्त्वों में भी भावना है। इन तत्त्वों का अपना एक निजी स्वर है, अपनी निजी एक भाषा है जिन्हें मानव जान नहीं सका है। ये तत्त्व सदय होते हैं, ये तत्त्व क्रुद्ध होते हैं। ये तत्त्व रचना करते हैं, ये तत्त्व विनाश करते हैं। ये तत्त्व कर्ता हैं, मनुष्य इन तत्त्वों के कर्मों का उपभोक्ता है। उपभोक्ता उत्पादक पर निर्भर हुआ करता है। उत्पादक जो कुछ दे, उपभोक्ता को वही स्वीकार करना पड़ता है। इस उपभोक्ता के पास देने को कुछ नहीं है, केवल लेता है। इस प्रकार के आदान-प्रदान के केवल दो रूप सकते हैं : ज़बरदस्ती लूटना या फिर याचना करना।

हमारे आदि पुरुष याचक थे, वे इस प्रकृति की उपासना करते थे। वे इन तत्त्वों से भिक्षा माँगते थे। वेदों की ऋचाओं में, कवियों के काव्यों में, स्तुतियों में और प्रार्थनाओं में मनुष्य का यह याचक वाला रूप ही दिखता है। और इस पूजा से प्रसन्न होकर, याचना से सदय होकर इन तत्त्वों ने मनुष्य को दिया, भरपूर दिया। मनुष्य सम्पन्न होता गया, मनुष्य शक्तिशाली बनता गया। और धीरे-धीरे अपनी सम्पन्नता एवं शक्ति के ज्ञान में मनुष्य उन्मत्त होता गया। वह भूल ही गया कि वह याचक है और फिर वह लुटेरे की भाँति प्रकृति के साथ खिलवाड़ करता गया। भयानक रूप से कुरूप हो उठा उसका अहम् और उसका ज्ञान।

जिस शरीर में यह समस्त चेतना और ज्ञान स्थापित है वह इन पंचतत्त्वों से ही तो निर्मित है। इन तत्त्वों पर ही तो मानव की स्थापना है, फिर इन तत्त्वों को मानव भला कैसे अपने वश में करेगा? मानव की मूर्खता पर कभी ये तत्त्व हँसते हैं, कभी ये क्रुद्ध हो जाते हैं। और इस बार जलतत्त्व मानव पर क्रुद्ध हो गया, पर्वतों की छाती

फाड़कर वह विनाश करने को निकल पड़ा।

उद्दाम वेग से उमड़ता हुआ पानी चला आ रहा था उत्तर दिशा से दक्षिण दिशा की ओर। उसके मार्ग में जो कुछ भी आया उसे तोड़ते हुए, उसे नष्ट करते हुए। यह जल मानव द्वारा निर्मित आवासों से टकरा रहा था, उन्हें तोड़ रहा था, उन्हें डुबा रहा था। एक भयंकरता से भरा कर्कश रव गूँज रहा था चारों ओर। पानी की हरहराहट, पहाड़ों के टूटने के धमाके, वृक्षों के जड़ों से उखड़ने की चर्राहट, हाथियों की चिंघाड़ें, शेरों की दहाड़ें, ऊपर उड़ने वाले पक्षियों का रुदन, भागते हुए, डूबते हुए और मरते हुए मनुष्यों की चीत्कारें। इन स्वरों में एक प्रकार का पैशाचिक संगीत था, जिसे मृत्यु का संगीत कहा जा सकता है। ताण्डव नृत्य करते हुए प्रलयंकर शंकर के डमरू का संगीत ठीक इसी प्रकार का संगीत रहा होगा। और इन लहरों की उद्दाम, असन्तुलित तथा उच्छृंखल गति ही उस ताण्डव नृत्य की गति भी रही होगी।

□□

मकोला ने एक्सीलरेटर दबाया, गाड़ी चालीस मील फ़ी घंटे की रफ़्तार से चल पड़ी। यशनगर से सुमनपुर जाने वाली सड़क मकोला ने पकड़ी, प्रायः छः-सात मील के बाद यह सड़क एक ऊँचे टीले पर चढ़ती थी। मकोला ने कहा, "अभी दस-बारह मील में हम लोग ख़तरे से बाहर हो जाएँगे।"

कार अभी मुश्किल से एक मील पहुँची होगी कि मकोला को ज्ञानेश्वरराव की आवाज़ सुनाई दी, "पानी की आवाज़ लगातार बढ़ती जा रही है मकोलाजी, कार की स्पीड बढ़ाकर। इसके पहले कि पानी सड़क पर आ जाए, हम लोगों को इस मैदान को पार करके उस टीले पर पहुँच जाना चाहिए।"

मकोला ने कार की स्पीड और बढ़ाई, गाड़ी अब साठ मील प्रति घंटे की रफ़्तार से दौड़ने लगी। उस समय तक दाहिनी ओर सड़क के नीचे वाली भूमि से पानी टकराने लगा था और वह लगातार ऊपर चढ़ता चला आ रहा था। मंसूर अत्यधिक भयभीत दृष्टि से उस बढ़ते हुए जल प्रवाह को देख रहे थे। उन्होंने कुछ काँपती हुई आवाज़ से पूछा, "जोखनलालजी, ऊँची भूमि यहाँ से और कितनी दूर है? पानी की रफ़्तार से तो मुझे बेहद डर लग रहा है।"

"ठीक तरह से तो मैं नहीं कह सकता, लेकिन मेरा अनुमान है क़रीब पाँच मील और है।"

मकोला ने मंसूर को सान्त्वना देते हुए कहा, "इतना अधिक घबराने की कोई बात नहीं है; अभी सात-आठ मिनट में पहुँचते हैं हम लोग वहाँ पर।"

ज्ञानेश्वरराव पीछे की ओर देख रहे थे, यशनगर के राजभवन के चारों ओर पानी ही पानी दिख रहा था। एक मील पीछे उन्हें रानी मानकुमारी की बुइक कार आती हुई दिखाई दी। "वे लोग भी आ रहे हैं तेज़ी के साथ।" ज्ञानेश्वरराव बोले, "बड़े मौके से हम लोगों को इस पहाड़ के टूटने का पता चल गया, नहीं तो हम लोग वहीं समाप्त हो गए होते।"

ज्ञानेश्वरराव ने अपनी बात पूरी ही की थी कि एक बहुत बड़े धमाके का स्वर सुनाई पड़ा इन लोगों को। इस धमाके की आवाज़ से इनकी कार लड़खड़ा-सी गई।

जोखनलाल ने सँभलकर पूछा, "यह कैसी आवाज़ है राव साहब ?"

कार की पिछली सीट पर दाहिनी ओर मंसूर बैठे थे। खिड़की के बाहर देखते हुए उन्होंने कहा, "उफ़्। धूल का एक बादल छा गया उत्तर की जानिब आसमान पर, कुछ दिखाई नहीं देता। मालूम होता है पहाड़ का कोई हिस्सा टूटकर गिरा है।"

पीछे आने वाली कार अब इनकी कार के बहुत निकट आ गई थी और उसका हार्न बज रहा था ज़ोर के साथ। मकोला ने कहा, "मालूम होता है कि पिछली कार अस्सी मील प्रति घंटे की स्पीड से आ रही है।" और उन्होंने अपनी कार की रफ़्तार और अधिक तेज़ की। "अरे यह क्या ? आगे सड़क पर पानी चढ़ रहा है !"

दाहिनी ओर से पानी उमड़ता हुआ चला आ रहा था। मकोला भी अब घबराए, अभी कम से कम दो मील का रास्ता और था पार करने के लिए। और पानी सड़क पर चढ़ आया। उस पानी में प्रखर वेग था, गाड़ी कुछ लड़खड़ाई। जोखनलाल चिल्ला उठे, "मकोलाजी, पानी सड़क पर आ गया है, इसकी स्पीड कम कीजिए, नहीं तो गाड़ी उलट जाएगी।"

मकोला को गाड़ी की स्पीड कम कर देनी पड़ी। देवलंकर जिस कार पर था वह अब ठीक इनके पीछे आ गई थी। एकाएक मकोला को लगा कि कार झटके दे-देकर बढ़ रही है। उन्होंने मानो अपने से ही कहा, "क्या बात है, गाड़ी बढ़ नहीं रही है ?"

"शायद इन्जन में पानी पहुँच रहा है।" जोखनलाल ने चिन्तित स्वर में कहा, "अब क्या होगा ?"

"हाँ, मालूम तो ऐसा ही हो रहा है। लेकिन पीछे ही बुइक कार है, इस गाड़ी को छोड़कर हम लोग उस पर बैठ जाएँ, यह रद्दी गाड़ी तो ऐन मौके पर धोखा दे रही है। राव साहब, उसी गाड़ी को रुकवाइए।"

देवलंकर की गाड़ी अब जोखनलाल की गाड़ी की बगल में आ गई थी। देवलंकर को भी अपनी गाड़ी की स्पीड धीमी कर देनी पड़ी थी। मकोला ने आवाज दी, "मिस्टर देवलंकर, जरा गाड़ी रोकिए। हम लोगों की गाड़ी आगे नहीं बढ़ रही है, आपकी गाड़ी पर हम लोग आ जाएँ।"

पर जैसे देवलंकर को मकोला की बात सुनने का समय ही नहीं था, दाँत किचकिचाते हुए मानो वह अपने ही आप बोला, "अभी दो मील और है, किसी तरह गाड़ी इस रास्ते को पार कर ले।" और देवलंकर की कार रुकने के स्थान पर आगे बढ़ती गई।

मौलाना रियाजुलहक़ बोले, "देवलंकर साहब, देखिए उस कार के लोग शायद आपको रुकने को कह रहे हैं।"

देवलंकर ने विना इधर-उधर देखे कहा, "मौलाना, चुप रहो। मौत जो कुछ कह रही है वह अधिक महत्त्व का है।"

देवलंकर की कार आगे निकल गई। जोखनलाल ने कहा, "हरामजादा कहीं का। समझूँगा उसे।"

और पागल की भाँति मकोला हँस पड़े, "अगर जिन्दा बच गए जोखनलाल। देख रहे हो पानी अब पायदान पर आ गया है। इस कार के बाहर निकलने में ही अपना कल्याण है।"

गाड़ी से उतरते हुए जोखनलाल ने कहा, "हम लोगों को पैदल ही आगे

चढ़ना होगा। मुमकिन है पानी और ज्यादा न बढ़े।"

सब लोग कार के बाहर निकल आए। लेकिन पानी बढ़ता जा रहा था, बढ़ता जा रहा था।

एकाएक मंसूर के पैर उखड़ गए पानी के तेज बहाव से। वह चिल्लाया, "मुझे बचाइए।" और यह कहकर उसने ज्ञानेश्वरराव का हाथ पकड़ने का प्रयत्न किया। ज्ञानेश्वरराव ने मंसूर की ओर अपना हाथ बढ़ाया, लेकिन मंसूर के पैर उखड़ चुके थे, पानी का बहाव मंसूर को खींच ले गया। ज्ञानेश्वरराव, रतनचन्द्र मकोला और जोखनलाल, तीनों भयभीत से बहते हुए मंसूर को देख रहे थे और मोटरकार को पकड़े हुए खड़े थे। उन तीनों में मृत्यु का भय भर गया था। पानी अब उनकी कमर तक आ गया था। तीनों मौन सहमे-से खड़े थे और अपने चारों ओर होने वाले मृत्यु के ताण्डव को देख रहे थे। वह मौन ज्ञानेश्वरराव को बुरी तरह त्रस्त कर रहा था, उनसे न रहा गया, "जोखनलाल, प्रलय काल में इसी तरह का जलप्लावन होता होगा। शास्त्रों में तो यही लिखा है।"

लेकिन जोखनलाल को भय के साथ क्रोध भी आ रहा था, अजीब नपुंसकता से भरा हुआ क्रोध। "शास्त्र पर सोचने का यह मौक़ा नहीं है राव साहब, इस समय तो यह सोचना है कि किस प्रकार अपने प्राणों की रक्षा की जाए। पानी के तेज़ बहाव से तो पैर उखड़ जाते हैं। मैं तो कार की छत पर खड़े होने का प्रयत्न करता हूं।" और यह कहकर वह कार के आगे बोनट पर चढ़ने को बढ़े। उन्होंने अपना एक पैर बोनट पर रखने को उठाया ही था कि उनका दूसरा पैर जमीन से ऊपर उठ गया, और वह चिल्लाए, "अरे मकोलाजी, मुझे बचाइए।"

मकोला उस समय चुपचाप खड़े कुछ सोच रहे थे, जोखनलाल उनसे करीब एक गज की दूरी पर थे। मकोला ने अपना हाथ उस ओर बढ़ाया ही था कि उन्हें अपने पैर जमीन से उखड़ते हुए मालूम हुए। घबराकर उन्होंने अपना हाथ खींच लिया। और उन्होंने देखा कि जोखनलाल बहे चले जा रहे हैं और चीख रहे हैं। उस चीत्कार में केवल भय था, विवशता थी, इसके सिवा कुछ न था।

थोड़ी देर तक दोनों मौन खड़े रहे, पानी अब उनकी कमर से ऊपर चढ़ रहा था, ज्ञानेश्वरराव ने कहा, "पहले मंसूर, फिर जोखनलाल। मकोलाजी, अब हम दोनों में किसकी बारी है?" ज्ञानेश्वरराव के स्वर में निराशा थी।

मकोला के अन्दर वाला दानव अब टूटने लगा था, "राव साहब, क्या मृत्यु अनिवार्य है?"

और ज्ञानेश्वरराव ने उत्तर दिया, "मृत्यु तो अनिवार्य हरेक के लिए है, लेकिन इस प्रकार मरना---इसकी मैंने कल्पना भी नहीं की थी। मुझे तो ऐसा लगता है कि हम लोगों को हमारी मृत्यु ही खींच लाई थी यहाँ पर। किस कुसमय में मैंने इस जोखनलाल का निमंत्रण स्वीकार किया था।" ज्ञानेश्वरराव भय से काँप रहे थे।

मकोला की आँखें कुछ तरल हो गईं, न जाने कितने काल के बाद उनकी आँखों में आँसू आए थे। "राव साहब, मेरे किन पापों का दंड मिल रहा है मुझे। कहाँ आकर मरना पड़ रहा है—अपनों से कितनी दूर। यह कार भी कितनी धोखेबाज निकली। देवलंकर ने ठीक कहा था। लेकिन उस देवलंकर ने अपनी कार नहीं रोकी, उसमें कौन-कौन लोग थे?"

"वह तो करीब-करीब खाली थी। देवलंकर और शिवानन्द शर्मा आगे थे, शायद मौलाना रियाजुलहक पीछे थे।"

"तो रानी मानकुमारी और मेजर नाहरसिंह नहीं आये। यह बदमाश देवलंकर उनको भी नहीं लाया। आप समझते हैं कि उस कार पर बैठे लोग बच जाएँगे?" और मकोला ने पश्चिम की ओर देखा। दूर प्रायः छः फर्लांग पर देवलंकर की कार रेंगती हुई दिखलाई दे रही थी उस पानी के बीच में। "नहीं बच सकेंगे वे लोग, उनकी कार भी पानी में फंस गई है।" और मकोला पागल की भाँति हँस पड़े, 'सब मरेंगे। मेजर नाहरसिंह ने ठीक ही कहा था, कोई नहीं बचेगा। वह बुड्ढा सब-कुछ जानता था। उसने हम लोगों को सावधान भी किया था। लेकिन हम लोगों ने उसकी बात नहीं सुनी, हम सब बहरे हो गए थे।"

उसी समय ज्ञानेश्वरराव चिल्ला उठे, "मकोलाजी···।" और ज्ञानेश्वरराव के हाथ से मोटर छूट गई।

मकोला ने बहते हुए ज्ञानेश्वरराव को देखा, फ़िर उन्होंने देखा कि वह अकेले खड़े हैं, एकदम अकेले। अब मकोला में अजीब तरह की घबराहट से भरा भय भर गया। उन्होंने आसमान की तरफ आँखें उठाईं, "हे भगवान्! मेरे पापों को क्षमा करो, क्षमा करो।" इसके आगे वह कुछ नहीं कह सके। उनके शरीर की सकल शक्ति जाती रही थी, उनका हाथ ढीला पड़ गया, और उनके हाथ से मोटर छूट गई। मकोला बहने लगे। बहते-बहते वह चिल्ला उठे, "वह हरामज़ादा देवलंकर, वह मुझे बचा सकता था। बचाओ, बचाओ।"

लेकिन वहाँ मकोला की चीख सुनने वाला कोई नहीं था। दूर देवलंकर की कार भी रुक गई थी। काफी दूर तक रानी मानकुमारी की वह बुइक कार पानी को चीरती हुई बढ़ती गई। जीवन और मृत्यु की दौड़-सी चल रही थी। कार आगे बढ़ रही थी, पानी भी ऊपर चढ़ रहा था। सामने करीब एक मील की दूरी पर ऊपर उठती हुई सूखी जमीन दिख रही थी। देवलंकर ने कहा, "यशनगर से चलने में दो तीन मिनट की देर हो गई, कुल दो मिनट की देर, और यही दो मिनट की देर हम लोगों के लिए घातक बन गई।"

पंडित शिवानन्द शर्मा ने पीछे की सीट पर देखते हुए पूछा, "मौलाना, आपको तैरना तो आता होगा?"

मौलाना रियाजुलहक़ ने करुण स्वर में उत्तर दिया, "जी, तैरना तो मुझे नहीं आता। शहरी ज़िन्दगी, कभी तैरना सीखा ही नहीं।"

देवलंकर कह उठा, "अरे हाँ शर्मा जी, आपने ठीक बात बताई। कुल एक मील की ही तो बात है। यहाँ से तैरकर वहाँ पहुँचा जा सकता है। आप तो तैर लेते होंगे ही, नहीं तो आपने यह सवाल न किया होता।"

मौलाना ने गिड़गिड़ाकर पूछा, "मुझे आप लोग अकेला छोड़ देंगे यहाँ पर?"

"अभी तो सड़क पर कुछ दूर तक पैदल चला ही जा सकता है मौलाना, सिर्फ घुटनों तक पानी है। लेकिन जिस गति से पानी बढ़ रहा है, उससे ऐसा लगता है कि जल्दी ही हम लोगों को तैरना पड़ेगा।" देवलंकर ने उत्तर दिया, "आप भी कार से उतर पड़िए मौलाना, यहाँ बैठकर कायरतापूर्वक मरने की अपेक्षा हाथ-पैर मारकर मरना ज्यादा अच्छा होगा।"

लेकिन मृत्यु जीवन की अपेक्षा अधिक सबल थी। देवलंकर ने दरवाजा खोलना चाहा, लेकिन दरवाजा नहीं खुला, दाहिनी ओर पानी का दबाव बहुत तेज था। देवलंकर बोला, "शर्मा जी, अपनी ओर का दरवाजा खोलिए, वह खुल जाएगा। जल्दी कीजिए, पानी अब तो बहुत तेज़ी के साथ बढ़ने लगा है।"

शिवानन्द शर्मा ने दरवाज़ा खोला, शर्मा जी और देवलंकर बाहर निकले। मौलाना चीख उठे, "मुझे अकेले छोड़े जा रहे हो, मुझे बचाओ, बचाओ! खुदा के वास्ते मुझे मरने के लिए यूँ मत छोड़ दो।"

"कार के बाहर निकलो मौलाना, कोशिश करो।" शर्मा जी ने मौलाना की तरफ़ वाला कार का फाटक खोलकर कहा। मौलाना में किसी प्रकार की गति नहीं हुई, मुख पर असीम भय के भाव थे। देवलंकर ने पूछा, "निकलता क्यों नहीं यह आदमी?"

शर्मा जी ने मौलाना को निकालने के लिए उनका हाथ पकड़ा और साथ ही उन्होंने हाथ छोड़ दिया। सर हिलाते हुए वह बोले, "मौलाना को निकालने की अब क्या जरूरत है? उनकी हृदय-गति बन्द हो गई है।"

पानी अब इन दोनों की कमर तक आ गया। देवलंकर ने कहा, "शर्मा जी, इतने पानी में पैदल तो नहीं चला जा सकता। हम लोगों को तैरना पड़ेगा।" और यह कहकर देवलंकर ने किनारे की ओर तैरना आरम्भ कर दिया।

पंडित शिवानन्द शर्मा ने भी देवलंकर का अनुसरण किया। लेकिन भयानक रूप से तेज़ बहाव था वह। उस धारा में वे दोनों दक्षिण की ओर बहने लगे। और फिर शिवानन्द शर्मा ने अनुभव किया कि वह थक गए हैं, उनकी शक्ति जाती रही है। चिल्लाकर वह बोले, "देवलंकर साहब, मैं चला।"

देवलंकर ने पीछे मुड़कर देखा, शिवानन्द शर्मा पानी के नीचे चले गए और फिर करीब पच्चीस गज की दूरी पर उनका शरीर ऊपर आया और फिर डूब गया। एक कँपकँपी-सी दौड़ गई उसके शरीर में। उसने फिर किनारे की ओर तैरना आरम्भ कर दिया और तभी तेज़ी से आने वाले एक उखड़े हुए वृक्ष का कुन्दा उसके सर से टकराया। देवलंकर की आँखों के आगे अँधेरा छा गया और वह पानी के नीचे चला गया। उसके सर से निकलने वाले रक्त की लालिमा पानी पर एक क्षण के लिए उतराई, फिर वह भी घुल गई।

—'सामर्थ्य और सीमा' से

बादल

किस उमंग से प्रेरित होकर शून्य अधर पर
घिर आयी हो सघन घटा तुम गरज-घुमड़कर ?
भीम तुम्हारा नाद, धीर, गम्भीर, भयंकर
हिल उठते हैं मेरु, काँप उठते हैं अम्बर !
ऐ झंझा के प्रबल झकोरे, ऐ झंझा के नाद,
प्रकृति के व्यंगयुक्त अवसाद !
रुको, बरसो, बरसो दिन रात !
लोप कर दो निर्दय आकाश !
रुको बन जाओ अंधाकार !
मिटा दो पल में सकल प्रकाश !
रुको, हो आज भैरवी नृत्य,
इधर हो नाश, उधर हो नाश।
इस विनाश के महागर्त में डूब जाय संसार !
और लोप हो जावे उसमें कलुषित हाहाकार !
जल ही जल हो, उथल-पुथल हो, बनो काल साकार,
बरसो ! बरसो ! अरे सघन घन महाप्रलय की धार !

—कविता का एक अंश

प्रश्न और मरीचिका

अपने परिवार के साथ हँसी-खुशी के वातावरण में चाय पीने के बाद मैं प्रमिला के साथ अपने कमरे में वापस आया था, कुछ देर तक आराम करने के लिए। जिस समय मेरा प्लेन पालम में उतरा था, शाम के पाँच बजे थे, लेकिन अँधेरा घिरना आरम्भ हो गया था। दिसम्बर १९५४ का तीसरा सप्ताह था और तेज सर्दी पड़ रही थी। दो महीने की लम्बी यात्रा के बाद मैं अपने देश वापस लौटा था और ये दो महीने मेरे मानो स्वप्नलोक में बीते थे—इस स्वप्न लोक में केवल रंगीन सपने ही नहीं थे, दुःस्वप्न भी थे। अपने देश के प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू की चीन की ऐतिहासिक यात्रा में उनके साथ जाने का सुनहरा अवसर मुझे मिल गया था, और मैंने चीन जाकर वहाँ की हालत स्वयं देखी थी।

कम्युनिस्ट चीन के सम्बन्ध में एक-दूसरे के विरोधी समाचार आते रहते थे, लेकिन कम्युनिस्ट चीन निर्विवाद रूप से स्थापित हो चुका था। विश्व के भावी इतिहास में इस कम्युनिस्ट चीन की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहेगी—शायद भारतवर्ष से अधिक महत्त्व-पूर्ण भूमिका रहे, कम-से-कम मुझे तो ऐसा ही लगा था।

चीन में भारतवर्ष के प्रति असीम सद्भावना है, चीन भारतवर्ष का सबसे निकट पड़ौसी है। दोनों देशों की सभ्यताएँ हजारों वर्ष पुरानी हैं। और अगर देखा जाय तो भारतवर्ष एक तरह से चीन का धर्म-गुरु है। बुद्ध ने चीन को धर्म दिया, चीन को आस्था दी, ह्वेनसांग, फाहियान—और न जाने कितने चीन-निवासियों के लिए भारतवर्ष तीर्थस्थान रहा है।

लेकिन शायद कहीं कोई गलती हो रही है मेरे सोचने में। न तो चीन के पास उसकी कोई सभ्यता रह गई है और न भारतवर्ष के पास। सभ्यता और संस्कृति के नाम पर कुछ थोड़ी-सी रूढ़ियाँ-भर बाकी रह गई हैं जो समय की गति का साथ न दे सकने के कारण अत्यन्त भोंडी, सड़ी-गली और विकृतियों से लदी हुई नजर आती हैं। तभी तो यह दोनों देश एक दशक पहले तक भयानक रूप से पिछड़े हुए माने जाते थे। पिछले महायुद्ध के बाद ही इन दोनों देशों का पृथक् अस्तित्व अनुभव किया गया है।

धर्म मर रहा है। चीन में तो वह मृतप्राय है, भारत में उसका विनाश आरम्भ हो रहा है। चीन कम्युनिस्ट हो चुका है, कम्यूनिज्म मजहब पर विश्वास नहीं करता,

कम्यूनिज्म स्वयं एक मजहब है। जहाँ तक भारतवर्ष का प्रश्न है, इस देश के कर्णधार को मजहब पर कोई आस्था नहीं—कम-से-कम जहाँ तक ऊपरी दिखावे का प्रश्न है। भारतवर्ष धर्म-निरपेक्ष राज्य है। महात्मा गांधी के धर्मों में समन्वय के सिद्धान्त के अनुसार सब धर्म पावन हैं—सभी धर्म समान भाव से अच्छे हैं। इसके माने यह हुए कि कोई भी धर्म दूसरे धर्म से हीन नहीं है। धर्म की स्थापना वहीं सम्भव है, जहाँ दूसरे धर्मों के मुकावले एक विशेष धर्म पर टिका जा सकता हो; जहाँ सभी धर्म एक प्रकार के हों, वहाँ किसी भी धर्म का कोई कोई अपना अस्तित्व नहीं है।

चीन के पास कम्यूनिज्म के नाम पर एक मजहब तो है, भारतवर्ष के पास तो कुछ भी नहीं है। न चीन के निर्माता माओ को ईश्वर पर कोई विश्वास है, न भारत के कर्णधार जवाहरलाल नेहरू को। माओ चीन का ईश्वर बन चुका है, जवाहरलाल को भारतवर्ष का ईश्वर बनने में हिचक है।

जवाहरलाल नेहरू ने चीन को सबसे पहले मान्यता दी थी, असीम साहस का काम था उनका। लेकिन इस द्वितीय महायुद्ध में ध्वस्त दुनिया में भारतवर्ष और चीन को मिलकर दुनिया का नेतृत्व अपने हाथ में लेना है, जवाहरलाल का कुछ ऐसा मत है।

पण्डित जवाहरलाल नेहरू! इतिहास-पुरुष। गजब का सम्मोहन है इस व्यक्ति के व्यक्तित्व में। भीतर से बाहर तक नेक व ईमानदार। महात्मा गांधी का सच्चा प्रतिनिधि। बुद्ध के काम को अशोक ने आगे बढ़ाया था, गांधी के काम को जवाहरलाल नेहरू आगे बढ़ाएँगे। भारतवर्ष का राष्ट्र-चिह्न है अशोक स्तम्भ, अशोक चक्र। कहीं भीतर अपने मानस-गुरु महात्मा गांधी को, उनका अशोक बनकर, दुनिया पर स्थापित करने की प्रबल अभिलाषा है इस व्यक्ति में। आदर्शों पर असीम आस्था है उसे, वह स्वप्नद्रष्टा है। वह दुनिया को बदल देना चाहता है।

दुनिया को बदल देना चाहता है। लेकिन वह अपने देश को ही नहीं बदल पा रहा है। कोशिश तो वह बहुत करता है लेकिन उसमें व्यावहारिक ज्ञान का सर्वथा अभाव है। वह व्यक्ति गांधी की ही भाँति उपदेशों से सब-कुछ प्राप्त कर लेना चाहता है। लेकिन वह भूल जाता है कि गांधी की राजनीति अभाव-ग्रस्त गुलाम देश की राजनीति थी जबकि उसकी राजनीति एक स्वतन्त्र एवं साधन-सम्पन्न देश की राजनीति है। अभाव-ग्रस्त और गुलाम देश का आदमी स्वतन्त्रता और सम्पन्नता प्राप्त करने के लिए बड़ा-से-बड़ा त्याग और बलिदान करने को उत्सुक था, और इसीलिए गांधी का त्याग और बलिदान सफल हुआ था। लेकिन स्वतन्त्र और सम्पन्न देश का आदमी पाने में विश्वास करता है, और यह प्राप्त करने की प्रवृत्ति धीरे-धीरे लूट का रूप धारण कर लेती है। इस लूट की प्रवृत्ति को हिंसा से ही दबाया जा सकता है।

लेकिन नेहरू महात्मा गांधी का उत्तराधिकारी है, वह अहिंसा का उपासक है। फिर वह महात्मा गांधी की भाँति वज्र की तरह कठोर भी नहीं बन सकता, उसके अन्दर सिद्धान्तों से परे स्वाभाविक मानवीय करुणा और दया भी है। राजनीति के क्षेत्र में वह उपदेशक बनकर दुनिया को बदलना चाहता है। ऊपरी तौर से इसमें उसे सफलता भी दिखती है। पिछले महायुद्ध में ध्वस्त दुनिया युद्ध और हिंसा से त्राण पाना चाहती है। वह नेहरू की अहिंसा की नीति की सराहना करती है, शायद वह उस नीति पर चलना भी चाहती है। लेकिन यह सब एक छलना-भर है। दुर्भाग्यवश यह छलावा

स्वयं नेहरू और उसके देश भारतवर्ष के लिए घातक है।

समझ में नहीं आता, क्या यह अहिंसा का दर्शन मानव-जीवन का सत्य बन सकता है? यह अहिंसा का दर्शन बड़ा उलझा हुआ है, सामाजिक जीवन में भी और वैयक्तिक जीवन में भी। मैं कहता हूँ कि गांधी की ही बात ली जाय। क्या वह स्वयं अपने दर्शन पर ही कायम रह सका? जहाँ तक सामाजिक जीवन का प्रश्न है, अपनी मृत्यु के पहले उसने कश्मीर के मामले में पाकिस्तान के विरुद्ध भारतवर्ष के युद्ध की स्वीकृति दे दी थी। अजीब बात थी। इसी गांधी ने विश्वयुद्ध के सम्बन्ध में ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री चर्चिल को अहिंसा और सत्याग्रह की सलाह दी थी। नहीं, दूसरों को उपदेश देने में और स्वयं उस उपदेश पर चलने में अन्तर होता है। और अपने वैयक्तिक जीवन में भी उसकी हत्या की गई। यह अहिंसा मनुष्य के स्वाभाविक गुण या विकृति—उसे जो कुछ भी कहा जाय, उसका नकारात्मक तत्त्व भर है।

पश्चिम में अहिंसा पर आस्था की एक लहर-सी दिखती है, जिसे नेहरू सत्य समझने की गलती करता है, लेकिन मैं इसमें नेहरू को दोष भी तो नहीं दे सकता। वे महान् पाश्चात्य नेतागण महात्मा गांधी के उत्तराधिकारी नेहरू को विश्व का नेता स्वीकार करने का दिखावा प्रदर्शित करते हैं, लेकिन यह मात्र दिखावा है। दुनिया पर अपने को आरोपित करने के पहले नेहरू को अपने देश पर अपने को ही आरोपित करना होगा, दूसरों के छल-फरेब और मक्कारी के ताने-बाने को काटकर। क्या नेहरू यह सब कर सकेगा?

चीन से वापस लौटने के बाद मुझे प्रसन्न होना चाहिए, मैं प्रसन्न दिखने का प्रयत्न भी कर रहा हूँ, लेकिन असलियत यह है कि अन्दर कहीं एक विक्षोभ भरा है। चीन में जवाहरलाल नेहरू का तथा हम लोगों का जो स्वागत हुआ, उसमें मुझे आत्मीयता नहीं दिखी, सब-कुछ बन्द-बन्द-सा। जहाँ तक चीन की जनता का सवाल है, कुछ अजीब तरह से सहमे हुए लोग। मुझे बताया गया कि कम्यूनिज्म अपने संघर्ष काल में लोगों को खुलने की इजाजत नहीं देता। वैयक्तिक स्वतन्त्रता का वहाँ सर्वथा अभाव है। और वहाँ का अधिकारी वर्ग! उसकी भावना राजनीतिक सुविधा या असुविधा की भावना है। चीन का शासन तन्त्र अपने को हिंसा के बल पर स्थापित किए हुए है। कभी-कभी वहाँ नेहरू को हीन समझने की भावना भी दिखी मुझे। शायद वह मेरा भ्रम हो। लेकिन मुझमें भी तो चीनियों को योरोप अथवा अमेरिका निवासियों की अपेक्षा हीन समझने की भावना है। शायद यही भावना नेहरू में भी हो, शायद यह भावना भारत के हरेक अपने को बौद्धिक समझने वाले प्राणी में हो। अपनी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति पर अपनी आस्था के दिखावे के बावजूद हम सब-के-सब इस पाश्चात्य संस्कृति और सभ्यता के प्रभाव से ओत-प्रोत हैं, कहना ग़लत नहीं होगा, हम सब उसके गुलाम हैं।

□□

उस दिन रात के समय मेरे पिता देर से लौटे, और जिस समय वह लौटे, वह काफी चिन्तित और थके हुए दिख रहे थे। इधर कुछ दिनों से सारा परिवार रात का भोजन एक साथ करता था और क्लब में देर तक बैठने की आदत मैंने करीब-करीब छोड़ दी

थी। मेरे पिता ने भी अपने ऑफिस में देर तक बैठना बन्द कर दिया था। मेरे पिता अकेले नहीं लौटे थे, उनके साथ प्रमिला के पिता विश्वनाथ मदान भी थे।

सन् १९६० के अक्टूबर महीने का तीसरा सप्ताह—उस साल सर्दी कुछ समय के पहले आ गई थी। मेरे पिता मेरे ससुर के साथ ड्राइंग-रूम में बैठ गए, नौकर ने ह्विस्की की बोतल, सोडा की बोतल, और गिलास उनके सामने रख दिए थे। मेरे पिता ने उस दिन स्वयं अपने हाथ से गिलास भरे, हम लोगों ने गिलास उठाए और मेरे पिता ने गम्भीर स्वर में कहा, "मेरे जीवन में आज शराब का अन्तिम दौर। कल से मेरी शराब बन्द।" और एक घूंट में उन्होंने अपना गिलास खाली कर दिया। मेरे ससुर ने केवल इतना कहा, "मुझसे तो नहीं छूटेगी गोकि छोड़ने की कोशिश मैं भी करूँगा।"

मैं आश्चर्य के साथ उन दोनों को देख रहा था। यह अनायास ही क्या हो गया मेरे पिता को ? और तभी विश्वनाथ मदान ने कहा, "मैं कहता हूँ उपाध्याय, तुम ब्राडला कम्बाइंस की एडवाइजरशिप का पद स्वीकार क्यों नहीं कर लेते ? जो तनख्वाह तुम्हें अभी मिल रही है—यानी चार हज़ार रुपया महीना, वही मिलेगी, कार एलाउंस और हाउस एलाउंस को मिलाकर। पाँच साल का कांट्रेक्ट है। पेंशन तुम्हारी ऊपर से!"

मेरे पिता ने कड़वा-सा मुँह बनाते हुए कहा, "और ब्राडला कम्बाइंस की तरफ़ से लोगों की खुशामद करूँ, उनसे सम्पर्क स्थापित करूँ। आज मैं शासन कर रहा हूँ, कल दूसरों का शासन स्वीकार करके उनके आगे झुकना। यह सब किसलिए ? नहीं मदान, यह सब मुझसे नहीं होगा। इतना रुपया इकट्ठा करके उसका मैं करूँगा क्या ? एक लोभ जरूर था, अगर वह मुझे कहीं एम्बेसडर या गवर्नर बना देते। लेकिन इन सबके लिए दौड़धूप, खुशामद की जरूरत होती है। और यह सब मुझसे न कभी हुआ है और न आगे होगा। अगर खुशामद ही करनी है तो भगवान् की खुशामद क्यों न की जाय!"

अब स्थिति मेरी समझ में आ रही थी। छः महीना बाद मेरे पिता रिटायर होने वाले हैं, एक हफ्ता पहले उन्होंने मुझे बताया था। उन्होंने मुझे यह भी बताया था कि मुमकिन है, भारत सरकार उन्हें कोई दूसरा काम सौंप दे, लेकिन शायद उन्हें भारत सरकार की ओर से निराशा ही मिली थी।

मैंने अपने ससुर से कहा, "क्या यह जरूरी है कि पिताजी जिन्दगी-भर नौकरी करते रहें ?"

एकाएक मेरे पिता के मुख पर एक हल्की-सी मुस्कराहट आ गई, "ठीक बात कही उदय, मुझे तुम्हारी बात सुनकर सन्तोष हुआ। सुनी तुमने मदान अपने दामाद की बात। अब मैं नौकरी करूँगा ही नहीं, अगर भारत सरकार मुझे कोई अन्य काम सौंपेगी भी तो मैं इनकार कर दूंगा। जिन्दगी में बड़े-बड़े पाप करने पड़े हैं इस नौकरी के कारण। लगता है कि मैं आज तक एक अपवित्र और कलुषित जीवन व्यतीत करता आया हूँ। अधिकार और वैभव का मद था, चीज़ों को सही ढंग से समझने की प्रवृत्ति ही मेरे अन्दर मर गई हो जैसे। और अब जब इस अधिकार और वैभव के तार टूट रहे हैं तब मुझे बोध हुआ कि मैं गलत रास्ते पर चलता रहा हूँ। अभी सब-कुछ नष्ट नहीं हुआ है, उसे सँभाला जा सकता है।" यह कहते-कहते उन्होंने अपना गिलास फिर भरा।

विश्वनाथ मदान थोड़ी देर तक गौर से मेरे पिता को देखते रहे, फिर उन्होंने कहा, "उपाध्याय, जो कुछ तुम कह रहे हो वह कोरी बकवास है। बनर्जी स्टील कारपोरेशन का चेयरमैन बन गया, पिल्ले ब्राजील का एम्बेसडर बन गया और बाडलू का नाम गवर्नरशिप के लिए चल रहा है। इनमें से एक तुमसे सीनियर है, दो तुमसे जूनियर हैं। उसी की प्रतिक्रिया है यह तुम्हारे अन्दरवाली कटुता। मैं गलत तो नहीं कह रहा हूँ?"

कुछ सोचकर मेरे पिता ने कहा, "शायद तुम्हारी बात ठीक हो, लेकिन इसी कटुता और निराशा से ही तो ज्ञान प्राप्त होता है। यह कटुता और निराशा अस्थायी और क्षणिक है, स्थायी है मानव की चेतना और ज्ञान। तो मदान, मैं अपने मन में रिटायरमेण्ट के लिए पूरी तौर से तैयार हो गया हूँ। साठ साल की उम्र हो गई, अब भगवत भजन करना है।"

अपने पिता का यह रूप देखकर मैं चकित रह गया। अपने पिता के सम्बन्ध में जो धारणा मैंने पहले बनाई थी, उसके विपरीत आज उनका जो रूप मेरे सामने आया, उससे उनके प्रति मेरे अन्दर असीम श्रद्धा जाग उठी। भोग-विलास, अधिकार-मद के पागलपन से घिरा यह आदमी अपने अन्दर वाले संस्कारों को किस तरह सुरक्षित रख सका? लेकिन शायद मेरे पिता के इस कथन का प्रभाव विश्वनाथ मदान पर नहीं पड़ा, उन्होंने कहा, "मुझे रिटायर होने में ज्यादा देर नहीं है, कुल एक साल। लेकिन मैं जीवन के प्रति तुम्हारे रुख को नहीं अपना सकता क्योंकि मैं इस रुख को गलत समझता हूँ। जीवन आद्यन्त कर्म है, जब तक शरीर में शक्ति और सामर्थ्य है तब तक इस कर्म से मुँह नहीं मोड़ा जा सकता। तो उपाध्याय, मैं तुमसे फिर कहूँगा कि तुम ब्राडला कम्बाइंस के इस आफर पर अच्छी तरह सोच-विचार लो, अभी काफी समय है।" और वह उठ खड़े हुए, "अच्छा अब मैं चलूँगा, घर में सब लोग मेरा इन्तज़ार कर रहे होंगे।"

विश्वनाथ मदान के जाने के बाद मैंने अनुभव किया कि मेरे पिता के मुख पर वाली थकावट तथा चिन्ता की रेखाएँ गायब हो गईं। उन्होंने मुझे देखा, "उदय, मुझे निर्णय लेना था और मैंने निर्णय ले लिया है। जो कुछ जैसा आता है, उसे उसी तरह स्वाभाविक रूप से स्वीकार किया जाय। वैसे तृष्णा का कोई अन्त नहीं है।"

"लेकिन रिटायरमेण्ट के बाद आप कीजिएगा क्या?" अनायास ही मेरे मुख से यह प्रश्न निकल पड़ा।

मेरे पिता आँखें बन्द किए कुछ देर सोचते रहे, फिर आँखें खोलकर उन्होंने कुछ भिचे हुए स्वर में कहा, "मैं क्या करूँगा? मैं नहीं जानता। और मैंने आज तक क्या किया है, वह भी मैं साफ नहीं जान सका। जीवन की सार्थकता क्या है? इसे शायद कोई भी नहीं जान सका है। बचपन में खेला-कूदा, पढ़ा-लिखा, परीक्षाएँ पास कीं, जवानी एक तरह से पागलपन में बीती और फिर धीरे-धीरे वह पागलपन एकरसता में बदलता गया। ढेरों फाइलें, मिनिस्टरों की हाजरी बजाना, चीज़ों पर विश्वास न रहते हुए उन्हें करते रहना, सुबह से रात तक मेहनत करते रहना। लेकिन यह सब किसलिए? नहीं उदय, इस सबकी चिन्ता करना बेकार है। तुम्हारे पास तुम्हारी निजी शानदार कोठी हो गई है, उसका इतना किराया आ रहा है कि अगर तुम अपनी सर्विस

छोड़ भी दो, तब भी बड़े मजे में अपनी ज़िन्दगी गुजार सकते हो। और उस कोठी में एक काफी बड़ा फ्लैट है जिसमें हम सब आराम से रह सकते हैं। फिर मेरी पेंशन भी है।"

"जी, मेरा मतलब यह नहीं था। मैंने तो केवल इतना पूछा था कि आपके रिटायरमेण्ट के बाद आपके जीवन में निष्क्रियता नहीं आ जाएगी ?"

मेरे पिता हँस पड़े, "कैसी निष्क्रियता ! मैं इन दिनों कर ही क्या रहा हूँ। शारीरिक श्रम मैंने कभी किया ही नहीं। उसकी आवश्यकता ही नहीं पड़ी। सुबह दफ्तर जाना, फाइलों पर दस्तखत करना, दूसरों की मर्जी के अनुसार उखाड़-पछाड़—यही सब तो कर रहा हूँ इन दिनों ! तो इस सबसे तो फुरसत मिलेगी। अब तो मुक्त होकर घूमना-फिरना, पढ़ना-लिखना, चिन्तन और मनन। करने को तो बहुत-कुछ है जीवन में !" और मेरे पिता उठ खड़े हुए, "चलो भोजन कर लिया जाय। अभी रिटायरमेण्ट में छः महीने हैं लेकिन हम लोग आज से ही इस बँगले का मोह छोड़ दें। अपने उस फ्लैट में सिमटने की कोशिश करें, यही अच्छा होगा।"

□□

मकान का सामान तितर-बितर पड़ा था। मुहम्मद शफी ने खुद झाड़न से सोफासेट साफ किया, फिर मुझे बिठाते हुए उन्होंने कहा, "नौकर साला छोड़ गया। छोड़ क्या गया घर का कीमती सामान लेकर भाग गया। तुम्हें पता नहीं मेहरबान, बड़ी मुसीबत के दिन बीते हैं यह पिछले चार-पाँच महीने। रहीम भाई का कारबार ठप। दिवालियेपन की नौबत। और फिर मैं पड़ गया सख्त बीमार। मैं बिस्तर से लगा और उधर वह नौकर घर का मालमता बटोरकर चम्पत हुआ। रहीम भाई का कारबार ठप हो जाने की वजह से लोगों ने मेरे यहाँ आना-जाना, मुझसे मिलना-जुलना बन्द कर दिया था। घिसट रहा था मेहरबान मौत के इन्तज़ार में कि एक फरिश्ते की तरह केसरबाई एक दिन मुझे तलाश करती हुई मेरे यहाँ आ गई। और इसने मुझे मौत के मुँह से जबरदस्ती निकाल लिया।"

मुहम्मद शफी कुछ दुर्बल अवश्य हो गए थे, लेकिन चेहरे पर शिकन नहीं, स्वर में वही पुराना उल्लास। "कैसे हुआ तुम्हारा आना मेहरबान ? कब तक क़याम है ? शर्मा साहब तो मजे में हैं ?"

"शर्मा जी ने फार्मिंग कर ली है, ज्यादातर दिल्ली से बाहर अपने फार्म पर रहते हैं।" मैंने उत्तर दिया, "बहुत दिनों से बम्बई नहीं आया था तो चला आया। दिल्ली में सुना कि आप शादी कर रहे हैं।"

"समझ गया मेहरबान—समझ गया। तो केसरबाई ने तुम्हें बुला भेजा है। लेकिन इसकी जरूरत क्या थी उसे ? हम लोगों की छोटी-छोटी नाइत्तफाकियों पर तुम्हें घसीटना—भला यह भी कोई बात हुई ? बहरहाल, अब जब आ ही गए हो तो मेरे सिर आँखों पर। तो मेहरबान, आखिर वह चाहती क्या है ? मैं तो उसे शादी करने को मजबूर नहीं कर रहा हूँ, इसरार उसकी तरफ से है।"

"लेकिन इनकार आपकी तरफ से भी नहीं है।" मैं मुसकराया, "वह शायद खुद अपने को आपसे शादी करने को मजबूर कर रही है, अपने बाप और अपने भाई की

इच्छा के विरुद्ध। आपको शायद पता तो होगा ही कि उसके भाई और परिवार—वे सब घर छोड़कर चले गए हैं।"

"जी, जानता हूँ। वह लोग नहीं चाहते कि केसरबाई शादी करे। उसकी कमाई पर वह लोग मौज करना चाहते हैं। वाह रे ज़माना, मर्दानगी मर गई, इंसानियत मर गई।"

मैं अब कुछ गम्भीर हो गया, "हो सकता है कि यही बात ठीक हो लेकिन सवाल इससे भी अधिक जटिल है। शफी साहेब, वास्तविकता से मुँह नहीं मोड़ा जा सकता। और वास्तविकता यह है कि आप मुसलमान हैं और केसरबाई हिन्दू है। विवाह के लिए यह जरूरी समझा जाता है कि मियाँ-बीवी दोनों का एक ही मज़हब हो!"

"जी कतई, मेहरबान! मुझे इससे कब इनकार है। और ग़ालिबन उसने आपको बतलाया होगा कि वह चाहती है कि मैं हिन्दू बन जाऊँ और मैं चाहता हूँ कि वह मुसलमान बन जाए।"

"जी हाँ।" मैंने कहा, "और मुझे यह सब सुनकर आश्चर्य हुआ। आपको मज़हब पर विश्वास नहीं—यह मैं अच्छी तरह जानता हूँ। न आप रोजा रखते हैं, न नमाज़ पढ़ते हैं। आपको पैगम्बर पर विश्वास है, न खुदा पर। लेकिन आप जानते ही हैं कि केसरबाई रोज नियमपूर्वक पूजा करती है, व्रत-उपवास रखती है। ऐसी हालत में आपका हिन्दू बन जाना अधिक आसान है, बनिस्बत उसके मुसलमान बन जाने के।"

मुहम्मद शफी बोले, "जी, इतना आसान नहीं है जितना आपने समझ रखा है। खुदा के अलावा मजहब का एक दूसरा पहलू भी है जिसे आप भी नज़रअन्दाज़ कर रहे हैं और जो ज्यादा अहम है।"

मैंने पूछा, "जी, वह पहलू क्या है?"

"जी, वह पहलू सामाजिक है। अब आप ही गौर कीजिए, आपके यहाँ ईश्वर को साकार मानने वाला हिन्दू हो सकता है, निराकार मानने वाला हिन्दू हो सकता है। जानवरों का बलिदान करने वाला हिन्दू हो सकता है, प्याज तक से गुरेज करने वाला हिन्दू हो सकता है। हिन्दू होने के लिए महज़ एक बात की जरूरत है, इंसान-इंसान में भेद-भाव समझा जाय। ब्राह्मण की पूजा की जाय, भंगी-चमार को छुआ तक न जाय। दूसरों के हाथ का बनाया खाना न खाया जाय, दूसरों के हाथ का पानी न पिया जाय। मैला खाने वाला कुत्ता तो घर में आराम से रहे, बच्चे उसे प्यार करें—धर्मराज युधिष्ठर के साथ वह स्वर्ग तक चला जाय, लेकिन आपकी गन्दगियों से आपको निजात दिलाने वाला यह इंसान—यह इतना नाकिस है कि इसकी परछाईं से भी दूर रहा जाय। लेकिन मुसलमानों में सब बराबर समझे जाते हैं, सब लोग मिल-बाँटकर खाओ, एक इंसान दूसरे पर हावी न होने पावे। मुसलमानों में सूद हराम है, मुनाफाखोरी हराम है। देखा जाय तो इसलाम कम्यूनिज्म के सबसे नजदीक है। तो मेहरबान, मैं इंसानी बिरादरी को मानने वाला हूँ लेकिन यह इंसानी बिरादरी दिखती कहाँ है? बहरहाल इसलाम में इंसानी बिरादरी के उसूल तो मौजूद हैं।"

मैंने कमजोर आवाज़ में कहा, "किसी हद तक आपकी बात सही हो सकती है।"

"जी, मैंने इस मसले पर काफी गौर किया है मेहरबान। हिन्दू बनने के मानी

होंगे हरेक समाज से अलग हो जाना। हरेक हिन्दू मुझे हिकारत की नज़र से देखेगा, हरेक मुसलमान मेरा दुश्मन बन जाएगा। तो मेहरबान, यह मानते हुए भी कि मुझे खुदा, रोज़ा या नमाज़ पर कोई यक़ीन न हो, कम-से-कम मेरा एक सामाजिक दरजा व रुतवा तो है। तो मैं पूछता हूँ कि उस सामाजिक रुतवे से भी हाथ क्यों धो बैठूं। मुझे केसरबाई की बात जरा भी समझ में नहीं आती। हिन्दुओं के निहायत नीचे तबके में उसकी गिनती होती हैं, फिर भी वह खुद हिन्दू बने रहने के अलावा मुझे हिन्दू बनने पर इसरार करती है।"

मुहम्मद शफी के तर्कों पर शायद अनजाने ढंग से मैं इतनी देर तक मन-ही-मन सोचता रहा था, मैं कह नहीं सकता और एकाएक मैं बोल उठा, "शफी साहेब, आपने जो दलीलें दी हैं वह नई नहीं हैं। लेकिन एक बात भूल जाते हैं आप। यह जितना सामाजिक वर्गीकरण जो हिन्दू धर्म में आप देखते हैं उस समय का है जब समाज अविकसित और असंगठित था, जब दुनिया के साथ यहाँ के निवासियों का सम्पर्क सीमित था। यह वर्गीकरण पेशों के अनुसार हुआ है लेकिन इस वर्गीकरण से हरेक वर्ग का प्राणी सन्तुष्ट तो रहा है। हिन्दुओं का दुर्भाग्य यह था कि वे परिवर्तन के प्राकृतिक नियमों को भूल गए थे। लेकिन इधर फिर से इस कार्य ने प्राकृतिक नियमों को अपना लिया है। मुसलमानों में से परिवर्तन का यह प्राकृतिक नियम जाता रहा है। मुझे तो अब हिन्दुओं में यह सामाजिक भेदभाव तेजी के साथ गायब होता दिख रहा है जबकि मुसलमानों की कट्टरता और असहिष्णुता बढ़ती जा रही है। खैर, छोड़िए इस बात को, बात यह है कि केसरबाई का कुल है, परिवार है। अपने कुल और परिवार वालों को वह नहीं छोड़ना चाहती। दुनिया में सबसे नजदीकी कुल और परिवार है न!"

"जरूर होगा मेहरबान, गोकि मुझे इसका एहसास नहीं है। मैं यतीम पैदा हुआ था। लेकिन इतना जरूर मानता हूँ कि बेटा बाप की जान ले लेता है, भाई भाई का गला घोंट देता है। कौन नजदीकी और कौन दूर है? इसका पता कम-से-कम मुझे तो आज तक नहीं लग सका। जिन्हें हम दूर का समझते हैं वही कभी-कभी अपने सबसे नजदीकी साबित होते हैं। अब अपने को ही लें, कुछ साल पहले हमने एक-दूसरे को देखा तक न था और आज आप मेरे नजदीक बन गए हैं। यह केसरबाई—कितनी नजदीकी बन चुकी है यह मेरी, लगता है कि मौत ही इसे मुझसे जुदा कर सकती है। बहरहाल मैं आपकी बात तसलीम किए लेता हूँ। लेकिन सवाल यह है कि यह मसला हल किस तरह से हो? मैं तो हिन्दू मज़हब कबूल करने से रहा—इस मजहब के सामाजिक पहलू की वजह से।"

थोड़ी देर तक हम दोनों चुप रहे, फिर मैंने कहा, "मैं आपकी बात समझता हूँ शफी साहेब। हिन्दू समाज में केसरबाई का स्थान बहुत नीचा है जिसे वह अपने पारिवारिक एवं सीमित सामाजिक परिवेश में अनुभव नहीं कर पाती, जिसे वह अपने परम्परागत धार्मिक विश्वासों के कारण अनिवार्य समझती है। और उसे समझाया नहीं जा सकता। तो क्या कोई दूसरी सूरत निकल सकती है?"

कुछ सोचकर मुहम्मद शफी ने कहा, "दूसरी सूरत यह है कि मैं मुसलमान बना रहूँ, वह हिन्दू बनी रहे। मैंने इस सूरत पर भी गौर कर लिया है। वहाँ मुसीबत तब होगी जब हमारी कोई औलाद हो। तो क्या वह औलाद हिन्दू कहला सकेगी? मज़हब

ग्रौर समाज मर्द का ही देखा जाता है, ग्रौरत का नहीं। इसके ग्रलावा इस सिविल मैरिज के बाद क्या केसरबाई का बाप, उसका भाई—यह सब क्या उससे नाता नहीं तोड़ लेंगे ?"

इसी समय दरवाज़े की घण्टी बजी ग्रौर मुहम्मद शफी ने उठकर दरवाजा खोला। सामने केसरबाई हँस रही थी, "शूटिंग कैंसिल हो गई, हीरोइन चाँदतारा के सिर में दर्द है, उसे छींक ग्रा गई। हे भगवान्, एक छींक, ग्रौर सिर में हल्की-हल्की-सी धमक—ग्रौर शूटिंग कैंसिल। फिल्म लाइन में हरामीपन बढ़ता जा रहा है।"

केसरबाई ग्रपने हाथ में एक टिफिन कैरियर लिये थी, उसने मुहम्मद शफी से कहा, "शफी मियाँ, तुम्हारे लिए सलीम होटल से कबाब ग्रौर चपाती लेता ग्राया है ग्रम, सोचा ग्रभी खाना खाने नाई गया होगा, ग्रम उदय से ग्राने को बोल दिया था। क्या बात है ? तुम दोनों इतना गम्भीर काहे को ?" ग्रौर केसरबाई ग्रन्दर से दरवाज़ा बन्द करके हम लोगों के पास ग्रा बैठी।

मैंने केसरबाई की बात का उत्तर दिया, "हम लोगों में जो बातें हो रही हैं वह गम्भीर समस्या पर हैं इसीलिए हम गम्भीर हैं। तुम्हारे कहने के ग्रनुसार शफी साहेब से बातें कर रहा हूँ, ग्रौर शफी साहेब की बात मुझे सही लगती है। मुहम्मद शफी का धर्म-परिवर्तन करना उचित न होगा।"

"तो फिर ग्रम कैसे ग्रपना धर्म बदलेगा ? इन शफी मियाँ को धरम पर ग्रास्था है ही नहीं, ग्रम तो ग्रपने देवी-देवता की नित्य पूजा करता है। तो ग्रम ग्रपना धरम कैसे छोड़ दें ?"

यह कहकर केसरबाई उठी, मुहम्मद शफी की ग्रालमारी खोलकर उसने व्हिस्की की एक बोतल निकाली, जैसे वह उस घर की मालकिन हो। ग्रालमारी में सोडा की कुछ बोतलें रक्खी थीं जो खाली थीं। केसरबाई बोली, "ग्ररे, सोडा तो खत्म हो गया। ग्रच्छा तुम इन्तजार करो, ग्रम ग्रभी लिए ग्राता है !" ग्रौर इसके पहले कि मैं उसकी बात समझूँ या उससे कुछ कहूँ, वह एक झोले में ग्राधा दर्जन सोडा की खाली बोतलें डालकर चल दी।

मुहम्मद शफी मुसकराए, "वह किंग्स सर्कल पर ईरानी की जो दूकान है, वहीं जा रही है। बला का जीवट है इस ग्रौरत में। इतना काम करती है, जैसे थकना जानती ही नहीं। इसने मेरी जान बचाई, मैं तो इसका हो चुका हूँ मेहरबान। ग्रगर यह जिद पकड़ लेती है तो मैं हिन्दू बन जाऊँगा, इसकी मर्जी के खिलाफ जाने का तो सवाल ही नहीं उठता। लेकिन यह ज़ोर देगी नहीं। समझ नहीं पाता हूँ इसे ! देवी है देवी।"

मैंने मुहम्मद शफी की बात का समर्थन किया, "जी, ग्रापके ग्राराम का, ग्रापके खाने-पीने का पूरा इन्तजाम रखती है। ऐसा लगता है कि ग्रापसे बेतहाशा प्यार करने लगी है। ग्रापकी वजह से ग्रपने भाई ग्रौर बाप से लड़ गई।"

मुहम्मद शफी की ग्राँखों में एकाएक ग्राँसू छलक ग्राए, "ठीक कहते हो मेहरबान, ज़िन्दगी में मुझे पहली दफे पता चल रहा है कि मुहब्बत किसे कहते हैं। मैंने ग्रपनी ज़िन्दगी में इतनी ममता सिवा ग्रपनी माँ के ग्रौर किसी से नहीं पाई ग्रौर वह मुझे बचपन में छोड़कर चल बसी। यह मुझसे इसरार कर रही है कि मैं इसके घर में चलकर रहने लगूँ लेकिन मैंने इनकार कर दिया। शादी होने के पहले हम दोनों का एक ही मकान में साथ-साथ रहना मुनासिब न होगा। इसमें मेरी तो क्या इसकी बदनामी ज्यादा

होगी।"

मुहम्मद शफी कवित्वमय होते जा रहे थे।

□□

मेरे इर्द-गिर्द यह सब क्या हो रहा है? और यह सब कैसे हो रहा है? मेरी समझ में नहीं आ रहा था। वैसे अगर देखा जाय तो यह सब तो दुनिया में रोज ही होता रहता है, होता रहा है, और आगे भी ऐसा ही होता रहेगा। कोई ऐसी विचित्र या अस्वाभाविक बातें नहीं हैं लेकिन न जाने क्यों एक धुंध-सा छाता जा रहा था मेरे सामने। मेरी मान्यताओं और मूल्यों में अकस्मात परिवर्तन आते चले जाते थे और मैं अपने से ही परेशान था। एक भयानक कुण्ठा और निराशा।

क्या इस घुटन और निराशा से ऊपर उठा जा सकता है? और मुझे लग रहा था कि यह मेरे वश में नहीं है। स्वयं की मुझमें कोई गति ही नहीं है, मैं अदृश्य गति और विधान का एक भाग भर ही हूँ। जहाँ तक मेरा प्रश्न था मेरे जीवन में कहीं किसी तरह का अभाव नहीं था, मेरे अन्दर वाली कुण्ठा का कोई सुस्पष्ट कारण भी नहीं था। मेरी पत्नी सौम्य और सुन्दर, मेरे बच्चे स्वस्थ और हँसमुख, भरा-पूरा परिवार। मेरे इर्द-गिर्द जो लोग थे, वह सब सुखी थे, सम्पन्न थे। और मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि मुझे हो क्या गया है। एक भयानक अवसाद भरता चला जा रहा था मेरे अन्दर।

मैं स्वतन्त्र व्यक्ति नहीं हूँ। मैं ही क्यों, किसी की भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। मैं एक देश, एक समाज का भाग भर हूँ, और वह मेरा देश तथा समाज—ऊपर से नीचे तक विकृत, एक सड़ाँध भरी हुई है उसमें। यह मेरा देश अपमानित और लांछित है। मुझे याद है वह दिन जब मैंने उस अमेरिकी पत्रकार को पीटा था, जिसने शराब के नशे में मेरे देश को और प्रधान मंत्री को गालियाँ दी थीं। उस समय मेरा मस्तक ऊँचा था। लेकिन आज कोई मेरे देश को और मेरे नेता को गालियाँ नहीं दे रहा था। हर तरफ से देश को सहानुभूति मिल रही है, रुपये-पैसे की, अनाज की सहायता का ताँता लगा हुआ था इस अपाहिज और असमर्थ देश को बचाने के लिए। लेकिन वह रुपया पूँजीपतियों की तिजोरियों में बन्द होता जा रहा था। अनाज भूखों तक पहुँचने की जगह सरकारी गुदामों में पड़ा सड़ रहा था। वस्त्रों की सहायता आ रही थी पहाड़ों पर पड़े हुए सैनिकों को शीत से बचाने के लिए, लेकिन वे कम्बल कलकत्ता के काले बाजार में बिक रहे थे।

और शासन तन्त्र विवश था। मैं गलत कह रहा हूँ, विवश था देश का देवता, शासन तन्त्र तो बुरी तरह भ्रष्ट हो चुका था।

और तभी मुझे फिर से एक आशा की किरण दिखी। सुदूर दक्षिण से एक आदमी उठा—उसका नाम था कामराज।

कामराज नाडार—तमिलनाडु का मुख्य मंत्री। मैंने पहले कभी उसको देखा नहीं था, उसका नाम उत्तर में एक तरह से अनजान नाम था। ब्राह्मणों के शासन को तोड़कर तमिलनाडु की बहुसंख्यक जनता का वह सबसे प्रभावशाली प्रतिनिधि था। उसने अपने को स्थापित किया था अपनी निष्ठा, अपनी ईमानदारी और अपनी लगन के बल पर। वह सही अर्थों में धरती का पुत्र था। उसके पास पाण्डित्य और विद्वत्ता का उखाड़-पछाड़ नहीं था, उसके अन्दर अभाव वाला विद्वेष नहीं था, कटुता नहीं थी। अपने को

द्रविड़ कहनेवाला वह आदमी दक्षिण में प्रबल होती हुई आर्य विरोधी भावना का नकारात्मक बिम्ब था। वह समस्त भारतवर्ष को एक इकाई के रूप में मानता था। और उसके नाम से देश के सामने एक योजना आई।

उसके नाम से एक योजना आई—कुछ अजीब-सी लगेगी मेरी यह बात। लेकिन यह सत्य हैं कि उस योजना को एक सुस्पष्ट रूप दिल्ली में दिया गया। जहाँ तक कामराज का सम्बन्ध है, उस योजना का ध्येय था कांग्रेस में फिर से आदर्श की प्रतिष्ठा करना। अगस्त मास की लोकसभा में अविश्वास के प्रस्ताव के समय विरोधी पार्टियों द्वारा कांग्रेस के विरुद्ध भ्रष्टाचार के आरोप हुए थे, उनमें कहीं कोई सार भी था। वे अतिशय त्यागी और बलिदान करने वाले कांग्रेस के वरिष्ठ नेता जो सत्ता के पदों पर बैठ गए थे, उनके मूल्य बदल चुके थे। त्याग के स्थान पर उनके अन्दर ग्रहण करने की भावना आ गई थी, सुख-सुविधा का जीवन बिताने के बाद वह अकर्मण्य बन गए थे। और उन नेताओं को एक बार फिर अपने को बदलकर त्याग और बलिदान का मार्ग अपनाना होगा, सत्ता के पदों से हटकर। देश को केवल इसी तरह बचाया जा सकता है। उस योजना के अन्तर्गत चरित्र निर्माण का एक नया अभियान आरम्भ किया गया।

लेकिन—लेकिन कदम पीछे नहीं हटा करता। अवस्था के साथ शरीर थकता जाता है, मन थकता जाता है। लोग हटे अपनी इच्छा से नहीं, उन्हें जबरदस्ती हटाया जा रहा है, यह स्पष्ट हो गया। असल में उन लोगों ने सत्ता प्राप्त नहीं की थी, सत्ता तो उन्हें मिल गई थी, और जिस तरह उन्हें सत्ता मिल गई थी उसी तरह वह सत्ता उनसे छिन भी गई। वास्तविक सत्ता तो केवल एक व्यक्ति के हाथ में थी जो मनुष्य न रहकर देवता बन चुका था, लेकिन जिसका आसन डगमगा रहा था। वह योजना देश को मजबूत बनाने वाली होने की जगह प्रधान मंत्री की स्थिति मजबूत बनाने वाली साबित हुई। अनेक सत्ताधारी दिखने वाले आदमी हटे, लेकिन देश में भ्रष्टाचार वैसा का वैसा बना रहा।

और जिसके हाथ में देश की सत्ता थी, वह बीमार था—तन से और मन से।

एक साल हो चुका था भारत-चीन युद्ध को। दिसम्बर का महीना आरम्भ हो गया था और दिल्ली में उत्सवों और समारोहों का दौर पूरी तौर से चल रहा था। उस दिन रविवार था और मैं सुबह के समय बरामदे की धूप में बैठा अखबारों को उलट-पुलट रहा था। एकाएक फोन की घण्टी बजी और मैंने उठकर फोन उठाया।

"मैं मिस्टर उदयराज उपाध्याय से बातें करना चाहती हूँ।" मुझे अंग्रेजी में एक महिला की आवाज़ सुनाई दी, जो फ्रेंच एक्सेन्ट में बोल रही थी।

"मैं उदयराज उपाध्याय बोल रहा हूँ।" मैंने उत्तर दिया।

"तुम मिस्टर जयराज उपाध्याय, आई० सी० एस० के पुत्र हो न ?" उधर से प्रश्न हुआ।

"हाँ, मैं वही हूँ। लेकिन तुम कौन हो ?" मैंने पूछा।

"मैं बेलेरिना मारिया हूँ। विश्वविख्यात बेलेरिना मारिया ! उसके अलावा भी मैं और कुछ हूँ—शायद तुम अनुमान लगा सको।"

एकाएक मेरा स्वर लड़खड़ा गया, "तुम—तुम—मीरा उपाध्याय—मोरिया गियोवानी तो नहीं हो ?"

"किसी समय मेरे यह नाम रहे हैं लेकिन अब तो मैं केवल बेलेरिना मारिया

हूँ। तुम आ सकते हो मेरे यहाँ ? मैं अशोका होटल में ठहरी हूँ, तुमसे मिलने ही मैं हिन्दुस्तान आई हूँ। तुमसे मिलकर मुझे बैंकाक रवाना हो जाना है, जहाँ आज से चौथे दिन मेरा बैले ट्रूप पहुँच जायगा।"

कुछ सँभलकर मैंने कहा, "मेरे पिताजी भी यहाँ हैं, क्या तुम उनसे मिलना चाहोगी ?"

"मैं उनसे मिलने नहीं आई हूँ—मैं सिर्फ तुमसे मिलने आई हूँ। लेकिन बाद में मैं उनसे भी मिल लूँगी। अभी तुम खाली हो क्या ?"

"मैं एक घण्टे के अन्दर आ रहा हूँ।" और मैंने रिसीवर रख दिया।

अशोका होटल के एक निहायत कीमती कमरे में बेलेरिना मारिया ठहरी हुई थी। मैं उसके कमरे में पहुँचा। उठकर उसने मेरा स्वागत किया। मेरी ओर बढ़कर उसने सिर से पैर तक मुझे देखा, और उसके मुख पर एक हल्की-सी मुस्कान आई, "तो तुम—तुम ! मैंने तुम्हें ढूंढ़ ही लिया।" और उसने मुझे अपने से लिपटा लिया, "मेरा बेटा कितना सुन्दर और नौजवान है ! हे भगवान ! मैं कितनी प्रसन्न हूँ—कितनी प्रसन्न हूँ !" और फिर उसने मुझसे कहा, "बैठो ! अपनी माँ को देखकर तुम्हें आश्चर्य हो रहा होगा। सोच रहे होगे कि किन अनजानी तहों से निकलकर मैं तुम्हारे पास आ पहुँची हूँ।"

बैठते हुए मैंने कहा, "मैंने तुमसे फिर कभी मिलने की आशा नहीं की थी, मैं तो तुम्हें हमेशा के लिए भूल गया था।"

"लेकिन मैं तुम्हें नहीं भूल सकी। ज़रा याद कर लेने दो—सन् १९३१—आज के बत्तीस साल पहले ! तब तुम्हारी उम्र पाँच साल की थी। तो मैं तब तुम्हारे जालिम बाप से मार खाकर हिन्दुस्तान छोड़कर चली गई थी, तुम्हें उस जानवर के हाथों में छोड़कर।"

"वह जालिम नहीं हैं और न वह जानवर हैं। वह मेरे पिता हैं।" मैंने टोका।

मेरी माता ने एक ठण्डी साँस लेकर कहा, "हाँ, वह जो कुछ भी हों, वह तुम्हारे पिता हैं। और हरेक इन्सान में एक पशु रहा करता है। मैं अपने शब्द वापस लेती हूँ। शायद उस सब में गलती मेरी रही हो, मैंने कई दफा इस पर सोचने की कोशिश की, लेकिन सोचना बेकार था, जो हो चुका था उसे वापस नहीं लिया जा सकता था। हिन्दुस्तान की संस्कृति अलग है, पाश्चात्य देशों की संस्कृति अलग है। लेकिन मुझे प्रसन्नता इस बात की है कि मेरा बेटा सही सलामत है।" फिर कुछ रुककर उसने पूछा, "तुम्हारी शादी हो चुकी है ?"

"हाँ, मेरी पत्नी है, मेरे दो बच्चे हैं।" मैंने कहा।

"हे भगवान् ! मैं अकेली माँ ही नहीं हूँ, मैं दादी भी बन चुकी हूँ।" और फिर एकाएक एक करुण मुस्कान, "और मैं अभी भी भटक रही हूँ।" उसने मानो अपने से ही ये शब्द कहे हों और फिर आँखें बन्द करके वह कुछ सोचने लगी।

एक लम्बी-सी स्त्री, चेहरा सुन्दर, बेहद चुस्त दिखने वाली, लेकिन मुख पर झुर्रियाँ जिन्हें वह मेकप के साथ बड़ी सावधानी के साथ छिपाए हुए थी। बाल काले, निश्चित रूप से रँगे हुए। कमरे के मद्धिम प्रकाश में वह पैंतीस-चालीस के बीच की दिखती थी। मैं उसे ध्यान से देख रहा था, उसने अपनी आँखें खोलीं, "समय बीत रहा है, आयु बीत रही है, और मौत निकट आती जाती है। जो जीवन मैंने अपनाया है उसे

भोगना है अन्त तक, उससे त्राण नहीं दिख रहा।" और मैंने देखा कि मेरी माँ की आँखें कुछ तरल हो गई हैं।

मैंने कहा, "तुम अभी स्वस्थ हो, इतनी उदासी और निराशा का कोई कारण नहीं है।"

मेरी माँ मुझे कुछ देर तक अपलक देखती रही, फिर उसने मुस्कराने की कोशिश की, "और इस निराशा तथा उदासी से मुझे मिल भी क्या जायगा? जब तक जीवित रहना है, तब तक ज़िन्दगी से चिपटे रहना है। मेरे बेटे, मुझे दो साल पहले हार्ट एटेक हो गया था, छः महीने तक बिस्तर पर पड़ी रही। बीमारी के उस लम्बे अरसे में मुझे अनुभव हुआ कि मैं नितान्त अकेली हूँ। और तब तुम मुझे याद हो आए। मेरा अपना बेटा तो कहीं दूर हिन्दुस्तान में मौजूद है। मैं एकाकी नहीं हूँ, मेरा सब-कुछ तो मौजूद है। और तुम्हारी याद ने मुझे अपनी बीमारी से लड़ने, उस पर विजय पाने का साहस दिया।"

कुछ रुककर उसने फिर कहा, "और तब से न जाने क्यों, मेरे अन्दर एक तरह का मोह जाग उठा है। मैं काफी सम्पन्न हूँ, रिवेरिया में मैंने एक खूबसूरत काटेज बनवा ली है, मेरे पास बेतहाशा रुपया है। लेकिन मेरे मरने के बाद उस सबको भोगने वाला कोई नहीं है। वह सब जैसे आया था, वैसे चला भी जायगा। तो मैं हिन्दुस्तान आई हूँ तुम्हें, अपने बेटे को अपने साथ ले चलने के लिए।"

मैं चौंक उठा, "तुम मुझे अपने साथ ले चलने आई हो? तुम मुझे नहीं के बराबर जानती हो।"

मेरी माता ने मेरी बात काटी, "मैं इतना जानती हूँ कि तुम मेरे बेटे हो। माँ इससे ज्यादा कुछ नहीं जानना चाहती। इससे ज्यादा जानने की उसे फिक्र नहीं।" और उठकर उसने मेरा हाथ पकड़ लिया, "मैं तुम्हारी माँ हूँ, बीच-बीच में मैं तुम्हारा पता लेती रही हूँ। मैं तुम्हारी बाबत बहुत कुछ जानती हूँ। तुम स्वाभिमानी और ईमानदार आदमी हो। तुम्हारी यह ख्याति मुझ तक पहुँच गई है। तुम्हें इस अभिशप्त देश का नागरिक होना ही नहीं चाहिए था। तुम पर जितना अधिकार तुम्हारे पिता का है, उतना ही अधिकार तुम्हारी माता का है।"

मैंने अन्दर वाले आवेग के वश में कहा, "मेरे ऊपर सिर्फ मेरा अधिकार है, और किसी का नहीं।"

□□

शाम के समय मैं अपनी माता को अपने साथ घर ले आया। मेरे पिता ड्राइंग-रूम में बैठे हुए उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे। दोनों कुछ देर तक खड़े-खड़े अजनबियों की भाँति एक-दूसरे को देखते रहे, फिर मेरे पिता ने कहा, "बैठो! एक बहुत लम्बे अरसे के बाद हम दोनों मिल रहे हैं।"

बैठते हुए मेरी माता ने कहा, "हाँ, तुम काफी बूढ़े और कमज़ोर दिख रहे हो। सुना है तुम रिटायर हो चुके हो?"

"तुम भी बदल गई हो। पहचानी नहीं जाती हो। अच्छी तरह तो हो?"

"अच्छी ही तरह हूँ। दो साल पहले एक हार्ट एटेक हो चुका है, तो खुद

डांस करना वन्द कर दिया है। बस बैले ट्रुप भर मेरा है, उसका प्रवन्ध करती हूँ, अपने मन को समझाती रहती हूँ कि मैं अभी कायम हूँ। मैं हिन्दुस्तान नहीं आना चाहती थी लेकिन मुझे अपने बेटे के लिए आना पड़ा।"

"उदय ने मुझे सब-कुछ बता दिया है। तुम जानती ही हो कि माता और पिता का अपने पुत्र पर अधिकार नहीं रहता, केवल उनका उत्तरदायित्व भर रहा करता है जब तक वह वालिग न हो जाय। तो उदय अब वालिग है, उसके बीवी और बच्चे हैं, यह मकान उसका है। वह जैसा चाहे वैसा करे। तुमने उसके सामने जो प्रस्ताव रखा है उसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है, अगर आपत्ति हो सकती है तो उदय को।"

मेरी माता ने मुझे देखा, "सुन रहे हो। तुम्हारे पिता को कोई आपत्ति नहीं है। अब तुम्हें क्या कहना है?"

मैंने मानो अपने से ही कहा हो, "इस देश में मैंने जन्म लिया है, इस देश के अन्न-जल से मेरा शरीर निर्मित हुआ है, इस देश की संस्कृति में मैं पला हूँ, लेकिन मुझे इस देश से कोई लगाव नहीं रह गया है। जो कुछ इस देश में है वह सब एक विकृति भर है, भयानक विकृति भर। यहाँ कभी-कभी मुझे ऐसा लगने लगता है कि मेरा दम घुट रहा है।"

मेरे पिता ने उसी समय मुझसे कहा, "उदय, यह क्या कह रहे हो?"

"मैं सत्य कह रहा हूँ पिताजी, लेकिन इस देश को जान चुका हूँ, इसलिए ऐसा कह रहा हूँ। जिसे मैं नहीं जान पाया हूँ, उसके सम्बन्ध में मैं क्या कह सकता हूँ।" और मैंने सिर को एक झटका दिया, "देश के बाहर अनजानों और अपरिचितों में मुझे क्या यह नहीं मिलेगा—इसी का क्या ठिकाना! नहीं, मुझे कुछ सोचना पड़ेगा, अभी मैं कोई निर्णय नहीं कर सकता।"

इसी समय प्रमिला ने मेरी बेटी कुमुदनी और मेरे बेटे प्रशान्त के साथ कमरे में प्रवेश किया। प्रमिला ने बढ़कर मेरी माता के पैर छूने की कोशिश की, लेकिन मेरी माता ने पैर हटा लिए, "नहीं-नहीं।" और मेरी ओर देखकर बोली, "कितनी प्यारी स्त्री है। क्या यह भारतीय है?"

"शत-प्रतिशत भारतीय!" मेरे पिता ने मुस्कराते हुए कहा।

"मुझे भ्रम हो गया था कि यह कहीं ग्रीक या ईरानी तो नहीं है।" मेरी माता भी मुस्कराई, "कितने सुन्दर बच्चे हैं, बिल्कुल फरिश्तों की तरह।"

मेरी पत्नी बैठ गई। कुमुदनी अपनी माँ से चिपक गई और प्रशान्त मेरी गोद में आकर बैठ गया।

मेरे पिता ने हिन्दी में प्रमिला से कहा, "बहू, यह उदय की माँ हैं, यह तो तुम्हें पता है। यह उदय को अपने साथ रिवेरिया ले जाने को आई हैं।"

प्रमिला ने मेरी माँ को देखते हुए अंग्रेजी में पूछा, "आप इन्हें क्यों अपने साथ ले जाना चाहती हैं?"

"इसलिए कि मैं अकेली हूँ।" मरी माँ ने एक छोटा-सा उत्तर दिया।

प्रमिला बोली, "आप क्यों नहीं यहाँ हिन्दुस्तान आकर हम लोगों के साथ रहती हैं?"

एकाएक मेरी माता भड़क उठी, "यह असभ्यों और जंगली आदमियों का देश, यह निहायत गन्दा और भ्रष्ट देश, मैं यहाँ रहूँगी आकर? अपमानित, पराजित और निहा-

यत चरित्रहीन हैं लोग यहाँ के। मैं उदय को इस गंदगी से निकालना चाहती हूँ, मैं भला क्यों इस गंदगी में फँसूँ आकर।"

और मैंने अपने पिता का वह रूप कभी लक्षित नहीं किया था जो उस समय मुझे दिखा, "तुम जिस गन्दगी में रह रही हो उसके मुकाबले में यहाँ की गन्दगी कुछ भी नहीं है। यहाँ कुछ भी ऐसा नहीं है जो वहाँ तुम्हारे यहाँ न हो। और यह राजनीतिक चरित्रहीनता, यह भ्रष्टाचार, यह तो हम लोगों को तुम विदेशियों से ही विरासत के रूप में मिले हैं। हम लोग इसके ऊपर उठेंगे, हम उठने भी लगे हैं। लेकिन—लेकिन तुम्हारी यह सभ्यता और संस्कृति। यह तो नितान्त अमानवीय है, जहाँ न दया है, न प्रेम है, न भावना है। तुम उदय को उस कीचड़ में क्यों घसीटना चाहती हो? वैसे अगर यह उदय तुम्हारे साथ जाना चाहे तो मैं उसे नहीं रोकूँगा। उसे रोकने का अधिकार मेरे पास नहीं है।"

उसी समय मुझे प्रमिला की दृढ़ आवाज़ सुनाई दी, "लेकिन मेरे पास, मेरे इन बच्चों के पास इन्हें रोकने का अधिकार है। हम लोगों को छोड़कर यह कहीं नहीं जा सकते, और हम लोग अपनी धरती नहीं छोड़ेंगे।"

मेरी माता ने एक बार सिर घुमाकर उस कमरे में बैठे सब लोगों को देखा, उसका चेहरा बेहद पीला पड़ गया था, अपनी विवशता और पराजय जैसे उसने स्वीकार कर ली हो। उसने थके हुए स्वर में कहा, "मैं जब यहाँ के लिए चली थी तब मैंने यह नहीं सोचा था कि इतना सब-कुछ बदल गया है। तुम ठीक कहती हो। मैं विगत के गर्भ में समा जाने वाली संज्ञा हूँ—मैं ही नहीं, यह उदयराज उपाध्याय भी। मैंने हिन्दुस्तान आकर वर्तमान और भविष्य को कुरेदने की गलत कोशिश की। लेकिन—लेकिन।" अब उसका स्वर कुछ अजीब तरह से करुण हो गया था, "मैं नितान्त एकाकी हूँ, न जाने कब मृत्यु मुझे बुला ले। इस अकेलेपन से अब मुझे डर लगने लगता है। मेरी इस सम्पत्ति का मेरे बाद क्या होगा?"

और मेरे पिता ने उत्तर दिया, "मृत्यु के बाद अपना कुछ नहीं रहता। उसकी चिन्ता करना बेकार।"

मेरी माता बोली, "अब मैं चलूँगी। बेहद थक गई हूँ। एक दिन आराम करके मुझे बैंकाक के लिए प्लेन पकड़ना है, वहाँ मेरा ट्रुप मेरा इन्तजार कर रहा होगा।"

मेरे पिता बोले, "चाय तैयार है, अपने बच्चों के साथ चाय पी लो। और अपने ऊपर यह तनाव क्यों डाल रही हो? सब-कुछ तो है तुम्हारे पास। आराम करो।"

मेरी माता उठ खड़ी हुई, "आराम के माने हैं मौत। चलते रहना है अन्त तक, मैं चलती रहूँगी।" और उसने प्रमिला से कहा, "चाय मैं पीकर आई हूँ। मैं सिर्फ शाम को एक प्याला चाय पीती हूँ। शरीर को ठीक रखने के लिए बेहद संयम करना पड़ता है। कल सुबह तुम बच्चों को साथ लेकर उदय के साथ मेरे होटल में आना, वहाँ नाश्ता हम लोग साथ करेंगे। अपने साथ तुम लोगों की एक फोटो रखना चाहती हूँ यादगार के रूप में। आओगी न! वादा करो।"

"आऊँगी!" प्रमिला ने वादा कर दिया।

कितनी निरीह, कितनी विवश। और वह मेरा हाथ पकड़कर सिर झुकाए हुए

चल दी, बिना और कुछ कहे-सुने।

अपनी माता को पालम एअरोड्रोम पर बैंकाक के प्लेन पर बिठाकर मैं वापस लौटा हूँ। शाम घिर आई है, और मैं बेतरह उदास हूँ। मेरे आगे सब-कुछ अस्पष्ट और धुँधला-धुँधला।

मेरे पिता अपने कमरे में बैठे हुए श्रीमद्भागवत पढ़ रहे हैं, मेरी विमाता कहीं किसी कीर्तन में गई हैं। प्रमिला अपने बच्चों को साथ लेकर अपने पिता के यहाँ चली गई है, लता का रूपा आन्टी के साथ पिक्चर देखने का प्रोग्राम था, वह घर पर नहीं है। मैं अपने कमरे में अकेला हूँ।

मेरी माता इस रात के अन्धकार में हवाई जहाज पर बैठी होगी, कल सुबह तक वह बैंकाक पहुँच जायगी और अपने को फिर दुनिया की चहल-पहल में खो देगी।

यह सब क्या हो रहा है, क्यों हो रहा है, कैसे हो रहा है? मेरे पास इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं है।

मेरा कुटुम्ब, मेरा परिवार, मेरा समाज, मेरा देश—इनसे बँधा हुआ मैं इस कमरे में अकेला बैठा सोच रहा हूँ कि आखिर जीवन की सार्थकता क्या है? अस्तित्व का प्रयोजन क्या है? सृजन की प्रेरणा कौनसी है? कहीं कोई प्रकाश नहीं, कहीं कोई उत्तर नहीं।

जो कुछ हमें मिला है उसे भोगना है हमें, चाहे हँसकर, चाहे रोकर। हम स्वयं कुछ ले भी तो नहीं सकते, सब-कुछ हमें अपने-आप मिलता रहता है। हम भले ही समझें कि हमने उसे प्राप्त किया है—लेकिन, हम कर्ता कब हैं? हम तो कर्म हैं क्योंकि हम पैदा होते हैं, हम मर जाते हैं। न पैदा होना हमारे हाथ में है, न मरना हमारे हाथ में है। फिर यह चिन्ता और उदासी क्यों?

कोई अभाव नहीं है मेरे पास, किसी तरह की कुण्ठा और निराशा भी नहीं है मेरे जीवन में। लेकिन मुझे लगता है कि मैं इस समय थकान से चूर हूँ। एक लम्बी यात्रा की है मैंने और यात्रा का अन्त नहीं दिख रहा है मुझे।

और यह यात्रा मैं क्यों कर रहा हूँ, इस यात्रा का उद्देश्य क्या है? इस यात्रा की परिणति क्या है? मैं नहीं जानता। प्रश्न ही प्रश्न है मेरे सामने और उत्तर में एक भटकाव, सीमाहीन और अनन्त!

मैं उठता हूँ, आलमारी से ह्विस्की की बोतल निकालकर एक बड़ा पेग तैयार करता हूँ, और चुपचाप बैठकर पीने लगता हूँ।

—'प्रश्न और मरीचिका' से

काँपती हवा-सा

मैं क्या जानूं क्या है शान्ति और क्या है श्रम ,
काँपती हवा-सा कुछ मेरे जीवन का क्रम !

विकसित कुसुमों से भर जाता जब मेरा पथ ,
मन्द, झूम, झुक मैं पड़ जाता सौरभ से श्लथ ,
तब मैं कोमल हूँ प्रिय, तब मैं शीतल हूँ प्रिय !
किन्तु मैं विकल हूँ, निज गति से चंचल हूँ प्रिय !

कौन-सा कुतूहल अस्तित्व को रहा जो मथ ,
पाऊँ मैं कैसे इति, देखा मैंने कब अथ !
एक सत्य मैं हूँ, जग कह देता जिसको भ्रम ,
काँपती हवा-सा कुछ मेरे जीवन का क्रम ।

समर्पण

अर्पित मेरी भावना इसे स्वीकार करो।

तुमने गति का संघर्ष दिया मेरे मन को,
सपनों को छवि के इन्द्रजाल का सम्मोहन,
तुमने आंसू की सृष्टि रची है आँखों में,
अधरों को दी है शुभ्र मधुरिमा की पुलकन।

उल्लास और उच्छ्‌वास तुम्हारे ही अवयव,
तुमने मरीचिका और तृषा का सृजन किया,
अभिशाप बनाकर तुमने मेरी सत्ता को,
मुझको पग पग पर मिटने का वरदान दिया।

मैं हंसा तुम्हारे हँसते से संकेतों पर,
मैं फूट पड़ा लख बंक भृकुटि का संचालन,
अपनी लीलाओं से, है विस्मित और चकित !
अर्पित मेरी भावना इसे स्वीकार करो।

... ...

अर्पित है मेरा कर्म इसे स्वीकार करो।

क्या पाप और क्या पुण्य इसे तो तुम जानो,
करना पड़ता है, केवल इतना ज्ञात यहाँ।
आकाश तुम्हारा और तुम्हारी ही पृथ्वी,
तुममें ही तो इन साँसों का आघात यहाँ।

तुममें निर्बलता और शक्ति इन हाथों की,
मैं चला कि चरणों का गुण केवल चलना है,
ये दृश्य रचे, दी वही दृष्टि तुमने मुझको,
मैं क्या जा नूं क्या सत्य और क्या छलना है।

रच-रचकर करना नष्ट तुम्हारा ही गुण है,
तुममें ही तो है कुण्ठा इन सीमाओं की,
है निज असफलता और सफलता से प्रेरित !
अर्पित है मेरा कर्म इसे स्वीकार करो।

... ...

अर्पित मेरा अस्तित्व इसे स्वीकार करो।

रंगों की सुषमा रच मधुऋतु जल जाती है,
सौरभ बिखराकर फूल धूल बन जाता है,
धरती की प्यास बुझा जाता गलकर बादल,
चट्टानों से टकराकर निर्झर गाता है।

तुमने ही तो पागलपन का संगीत दिया,
करुणा बन गलना तुमने मुझको सिखलाया,
तुमने ही मुझको यहाँ धूल से ममता दी,
रंगों में जलना मैंने तुमसे ही पाया।

उस ज्ञान और भ्रम में ही तो तुम चेतन हो,
जिनसे मैं उठता-उठता गिरता रहता हूँ,
निज खंड-खंड में हे असीम तुम हे अखंड !
अर्पित मेरा अस्तित्व इसे स्वीकार करो।

□□

श्री भगवतीचरण वर्मा की पुस्तकें

			प्रकाशन-वर्ष
१.	पतन	उपन्यास	१९२८
२.	चित्रलेखा	उपन्यास	१९३३
३.	मधुकण	कविता-संग्रह	१९३४
४.	तीन वर्ष	उपन्यास	१९३६
५.	इंस्टालमेंट	कहानी-संग्रह	१९३७
६.	प्रेम संगीत	कविता-संग्रह	१९३७
७.	दो बाँके	कहानी-संग्रह	१९३८
८.	एक दिन	कविता-संग्रह	१९३९
९.	मानव	कविता-संग्रह	१९४०
१०.	टेढ़े-मेढ़े रास्ते	उपन्यास	१९४६
११.	हमारी उलझन	निबन्ध-संग्रह	१९५१
१२.	आखिरी दाँव	उपन्यास	१९५२
१३.	अपने खिलौने	उपन्यास	१९५८
१४.	भूले बिसरे चित्र	उपन्यास	१९५९
१५.	वह फिर नहीं आयी	उपन्यास	१९६०
१६.	सामर्थ्य और सीमा	उपन्यास	१९६२
१७.	थके पाँव	उपन्यास	१९६३
१८.	रेखा	उपन्यास	१९६४
१९.	सीधी सच्ची बातें	उपन्यास	१९६८
२०.	सबहिं नचावत राम गोसाईं	उपन्यास	१९७०
२१.	प्रश्न और मरीचिका	उपन्यास	१९७३

इसके अलावा, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली द्वारा प्रकाशित 'मेरी कहानियाँ', 'मेरे नाटक' और आयोजित 'मेरी कविताएँ' नाम के संग्रह, तथा कुछ बाल-साहित्य।

श्री भगवतीचरण वर्मा, या अपने और उनके प्रति अधिक सहज होकर कहना चाहें तो, भगवती बाबू के लेखन का यह संकलन उनके पैंतालीस वर्षों के रचना-काल का प्रतिनिधित्व करता है। यह सही है कि संकलन के आयोजन के पीछे भगवती बाबू के प्रति सम्पादकों के बिल्कुल व्यक्तिगत सम्मान और स्नेह की भावना है —ऐसी भावना जो साहित्येतर नहीं, बल्कि साहित्योपरि है—फिर भी वे इस संकलन की संग्रहणीयता और सार्वजनिक उपादेयता के बारे में बराबर सचेत रहे हैं।

भगवती बाबू की रचनाओं की जो प्रवृत्तियाँ, चाहे वे स्पष्ट हों या अन्तर्निहित, बार-बार पाठक की चेतना से टकराती हैं, उनको मुखरित करनेवाली रचनाओं और उद्धरणों को छाँटने की चेष्टा की गयी है, और जहाँ तक सम्भव था, एक भावभूमि पर टिकी हुई कृतियों को एक साथ सहेजा गया है। 'रेखा' के कुछ उद्धरणों के बाद 'नूरजहाँ की क़ब्र पर' के जो अंश इस संग्रह में मिलेंगे, या 'सामर्थ्य और सीमा' के उद्धरणों की भूमिका के रूप में जो 'देखो, सोचो, समझो' कविता मिलेगी, उन सबकी एक पारस्परिक प्रासंगिकता है। उसी तरह 'प्रश्न और मरीचिका' के उद्धरण और उसके बाद 'काँपती हवा सा' वाली कविता, इसके बावजूद कि दोनों रचनाओं के बीच में बीस वर्ष से ऊपर का फासला है, सांकेतिक रूप से एक-दूसरे से जुड़ी हैं। फिर भी, पल-पल पर बदलती हुई स्नेह, आशंका, उधेड़-बुन आदि की मन:स्थितियाँ, माने हुए मूल्यों के आगे बार-बार प्रश्न चिह्न लगाने की प्रवृत्ति और उन प्रश्नों के उत्तर न खोज पाने की असहायता—और इन सबसे अलग मौज और फक्कड़पन से भरा हुआ हास्य-व्यंग्य—इस सबको इतने छोटे संकलन में उतार पाना एक दुष्कर प्रयोग रहा है, और कभी-कभी यदि पाठक के एक खास मूड को दूसरा मूड एक झटके के साथ अवक्रमित करे तो उसकी खीज का यही पुरस्कार है कि हिन्दी में सबसे अधिक पढ़े जानेवाले साहित्यकार के बहुरंगी लेखन का पूरा अनुभव वह इतने कम समय में एक साथ प्राप्त किये ले रहा है।

—प्रस्तावना से

राजकमल प्रकाशन दिल्ली पटना